



# नमो विद्वान् \* इन्द्राणां ।

16 1 2 - 116

गणेश

प्रभु भक्ति परमानन्द के द्वारा अनादिमाल से अनतानंत जीव हमारे द्वारा अपना आरम-कल्याण कर चुके हैं परन्तु आज भौतिकवाद के युग में लोगों का श्रद्धा धर्म से विमुख होती जा रही है। भाल भाल जीवों के मस्तिष्क में इस उत्तम आरम-कल्याण के मार्ग के बारे में आनेक संशय और धारणाएं फैल रहा है। उनका निराकरण करने के लिए विद्वान् और उपकारी महापुरुषों ने कई पुस्तकों का रचना की है—जैसे पूज्य पन्थाम था भद्रकर विनयजी महाराज की "प्रतिमा पूजन", आचार्य महाराज श्रीमद् विनय लक्ष्मिसूरिजी का "मूर्ति मंडन", मुनिश्री ज्ञानमुद्गरजी के "मूर्ति पूजा का प्रागान इतिहास ।" ये पुस्तकें बुद्धि विस्तृत भा हैं और वर्तमान में प्रायः अनुपलब्ध हैं। अतः इन्हीं पुस्तकों के आधार पर प्रश्नोत्तर रूप में इस पुस्तक को तैयार किया गया है।

इसकी तैयारी में पूज्यपाद पन्थाम था भद्रकर विनयजी महाराज, गणेश्वर श्री धर्मसागरजी महाराज ने विशेष सहायता प्रदान की है। संशोधन कार्य शान्तमूर्ति पूज्य मुनिराज श्री भद्रकर विनयजी ने करने का कृपा की है।

इन सब मुनि महाराजों तथा उपरोक्त पुस्तकों के लेखक, महानुभावों के हम अत्यन्त आभारी हैं।

पंडित शोभाचंद्रजी भारिख ने "प्रतिमा पूजन" के कुछ गुजराती प्रश्नोत्तरों का हिंदी अनुवाद किया है वह भा धन्यवाद के पात्र हैं ।

प्रश्नोत्तर समूहों में शास्त्रीय मर्यादा और विनाशा का पूरा २ ध्यान रखा गया है तथापि यदि कुछ भूल या त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए क्षमा प्रार्थी हैं ।

पाठक महोदय इस पुस्तक का निष्पक्ष भाव से पढ़ें, विचारें, जीवन में उतारें और आत्मा का कल्याण करें । यह शुभाकांक्षा—

ढयावर  
आपाद वृष्णा १४  
स० २०१४

निवेदक—  
श्री जैन माहित्य समिति की ओर से  
शकरलाल मुणोव, शोरीलाल नाहर

## “प्रास्ताविक किञ्चित्”

सब संसारा जाय सुख चाहत हैं और सुख की प्राप्ति के लिए दिन रात प्रयत्न भी करते हैं तथापि सतत उन्मत्त के परधान् जब सुख नहीं मिलता तो मानना चाहिये कि यहाँ कुछ गलतता है।

यह गलतता और कुछ नहीं, परन्तु जाय का देवगुरु की सेवा के प्रति दुलभ्य-अनादर ही है।

देव गुरु दोनों में भा प्रारम्भ में देव संग ही आयस्यक है। देव सेवा स जाय की समम मन आ सके ऐमा चित्त की शुद्धि हाता है, मन की मलिनता नष्ट हाती है विषार शुद्ध होते हैं मग चारों से प्राप्ति बनता है फलत सदाचारा त्यागी ज्ञानी विरागी माधु पुरुषो की तरफ आकर्षित हाता है और ऐसे महात्माआ की सेवा करने का भाव पैदा होता है निममे ज्ञान, श्रान चारित्र रूप औपध को प्राप्त कर सर्वदा दुःखों का नाश स्वरूप अरिनारा सुख को पाता है।

इस प्रकार सुख की प्राप्ति का मूल उपाय देव गुरु की सेवा व भक्ति है।

ऐसे सुख की प्राप्ति शुद्ध देव की सेवा से ही शक्य है। जो देव रागद्वेष अज्ञान को ममूल नाश कर वातराग भर्षज्ञ, जिन बने हैं, उन जैन देवाधिदेव को निनरवर अरिहत सौर्यकूर' कहत हैं। उनकी मया निस प्रकार उनके नाम स्मरण से होता है उमी प्रकार उनका मूर्ति की सेवा से भी होती है।

कई लोग ऐसी मूर्ति को पूजा सेवा दर्शनादि में अधर्म-हिंसा मानते मनाते हैं, उनको तथा धर्म मानने पर भा जो लोग मूर्ति की सेवा में प्रमाद करते हैं, उनको इस पुस्तक में प्रज्ञोत्तर के रूप में सत्य ज्ञान बतलाने का प्रयत्न किया गया है।

इस पुस्तक में मूर्ति पूजा की शास्त्र सिद्धता के उपरान्त तक युक्ति और व्यवहार से भा करणीयता सिद्ध की गई है।

इस पुस्तक से बुद्धिमान मूर्ति पूजा का महत्त्व और फल तथा जीवन के साथ इसका वैसा सम्बन्ध है, इन बातों को पूर्ण मध्यस्थ और सूक्ष्म बुद्धि में सोचें और मत्स्य का प्राप्त कर।

॥ इति शम् ॥

श्रीजिन चरणापासक—

मुनि भद्रंकर विजय, अहमदाबाद

विपत्ति यह वास्तविक विपत्ति नहीं, प्रभु को भूलना ही विपत्ति है।

सम्पत्ति, यह सच्चा सम्पत्ति नहीं, प्रभु का स्मरण ही सच्चा सम्पत्ति है।

## उपोद्घात

ममर्थं शास्त्रचार मर्त्यि आषाय भीमद् हरिभद्रसुरिञ्जा  
और उनम भी पूवषर्ती महान मर्त्यि परमात ई—

चैत्यवन्दनत सन्नाह्, शुभा भाव प्रमायत ।  
तस्मात्कर्मक्षय सये, तत कल्याणमगुते ॥

चैत्य अथान् भी जिन मन्दिर अथवा भा जिनविम्व को सम्यक् प्रकार मे यत्न करन से प्रपृष्ट शुभ भाव ल्यप्त होता है । शुभ भाव म कर्म का क्षय होता है और कर्म के क्षय से मय कल्याण की प्राप्ति हाती है ।

चैत्य वन्दन का हा दूमरा अर्थ है—प्रतिमा पूजा । मन, यचन और काय को प्रशान्त प्रपृष्टि का नाम वन्दन है । मन से ध्यान करना, यचन म स्तुति करना और काय म पूजनादि करना, यह शास्त्ररूढि व अतुमार वन्दन क्रिया कहलाती है । श्री अरिहंत के चैत्या को मन-यचन-काय से वन्दन करना, मुग्धित पुष्पमाला आदि द्वारा उनका पूजा करना, प्रथर वस्त्रालंकारों द्वारा डाकर

सत्कार करना और गुण स्तुति द्वारा उनका सम्मान करना जन्म जन्मांतर में जिनधर्म की प्राप्ति का कारण है और अंत में जन्म जरा मरण आदि दुःखा के स्पर्श से रहित निरुपसर्ग मात्त पद प्रदान करने वाला है। ऐसा सूत्रकार भगवतों ने मूल सूत्रों में ही फर्माया है।

“चैत्यवर्द्धन का अर्थ अरिहतों की प्रतिमाओं का पूजन” किस प्रकार होता है इस सम्यन्व में शब्दशास्त्रविशारदों का कथन है कि—

‘चित्तम् अन्नं करणं, तस्य भावः कर्म वा, प्रतिमा लक्षणम् अर्हचैत्यम् । अर्हतां प्रतिमा प्रशस्त-ममाधि चित्तोत्पादकत्वात् चैत्यानि मण्यन्ते !’

चित्त अर्थात् अन्न करण । अन्न करण का भाव या अन्न करण की क्रिया को चैत्य कहते हैं । अरिहतों की प्रतिमाएँ अन्न करण की प्रशस्त ममाधि को उत्पन्न करता हैं, अतः वे चैत्य कहलाती हैं ।

चैत्य शब्द का दूसरा अर्थ—

चैत्य जिर्नाकस्तट्टिषम् ।

अर्थात् जिनगृह अथवा जिन बिम्ब का चैत्य कहते हैं ।

चैत्य का यह अर्थ भी किया गया है। उस चैत्य को वर्द्धन आदि करने से शुभ भाव की वृद्धि होती है। शुभ भाव की वृद्धि

ने उत्तरोत्तर सम्पदशानादि विशुद्ध धर्मों की प्राप्ति ढाली है और इससे परम्परा से ममस्त कर्मा से मुक्ति आदि महान् कार्य सिद्ध होते हैं ।

अर्हन्त चैत्यो अधान् अरिहतों की प्रतिमाओं को वन्दन पूजन आदि करने से सम्पददर्शन आदि आत्मगुणा की प्राप्ति और कर्म क्षय की सिद्धि होता है । ऐसा हा हरिभद्रसूरि म० आदि सूरिपू गवा ने हों नहीं कहाया है किन्तु उनसे पूर्ववर्ती पूर्वधर भगवान् श्रीलिन भग्वाणि समाश्रमण दस पूर्वधारी भगवान् आ उमास्वामिणी और चौद पूर्वधर श्रुतवेवली भगवान् श्री भद्रबाहु स्वामी आदि अनेक मूरीश्वरों ने भी महाभाष्य, पूजा प्रकरण आवश्यक नियुक्ति आदि महाशास्त्रा म इसी प्रकार कहा है । यही नहीं, किन्तु मूल आवश्यक सूत्रकार गणधर भगवान् श्री सुवर्मास्वामीजी महाराज ने कायोत्सर्ग आवश्यक और उनके आलाओं में भी स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है ।

प्रतिमा पूजन की सिद्धि और श्रेय साधनता के लिये इससे अधिक प्राधान और प्रबल प्रमाण हमरे शायद ही हो सकन हैं । प्रतिमा पूजन कोई अज्ञान, स्वार्थसाधु या धूर्त पुरुषा द्वारा उप जाई हुई निरर्थक क्रिया नहीं है, किन्तु सर्वोत्तम ज्ञान क धारक निस्वार्थ और शुद्ध पुरुषा के द्वारा स्व-पर कल्याण के लिए दर्शाई अज्ञान और अनुपम सफल धर्म क्रिया है ।

वतमान युग, धर्म के विषय में एक अपेक्षा से बहुत थोड़ा विचार करने वाला है । बिरले ही मिलते हैं जो धर्म के विषय में गहरा उतरन का प्रयाम करत हों । ऐसी स्थिति में मिथ्या बातों



का जीवन म आ जाना और सच्ची धनुओं का जीवन म स निष्कल जाना बिलकुल सरल है । आ जिन प्रतिमा पूजन एक सर्वोत्तम धर्मानुष्ठान है । इसकी कोटि का दूसरा धर्मानुष्ठान तीन लोक म आ मिलना कठिन है । किन्तु उसके मामन अज्ञानता, पूर्वग्रह, कुशिक्षा, जड़वाद, उपेक्षा और धर्म के प्रति बेदरकारी आदि अनिष्ट छाती तान कर खड़े हैं । उन मवस स्वयं बचना और दूसरों को बचाने क लिय कटिबद्ध होन की आवश्यकता है । ऐसे समय म आ आ जिन प्रतिमा पूजन की श्रेष्ठता भावित करने वाला इतना हो नहीं, किन्तु अनक प्रकार का साहित्य प्रकारा म लाना आवश्यक है । इस भगारथ कार्य का एक अरा भी यदि इस पुस्तक से सिद्ध हा सजा तो भी यह प्रयास सफल गिना जावेगा ।

—पन्यास भद्रकर विनय गणी

शास्त्र ममुद्र में अयगाहन करने स मुके यह सार मिला है कि श्रीजिन भक्ति परम मुख मन्व-दाओं का बीज है ।

—महापाध्याय यशोविजयजी

—अशुद्धि परिकल्प—

शुद्ध	वर्ण	अशुद्ध	शुद्ध
१	८	होर्ना	होर्ना
७	२	श्रावमय	श्राविसमय
१३	१३		बी
१३	१६	बनाथा	बनथा
१३	१८	बने	बिन
२०	३	मनि म	मविम म
२७	२०	मन्दिष	मन्दिर्म
३७	२०		म
४०	२	मगवात्	मगवात्
४०	७		मिनको
४०	८		को नामन
४३	३	म्यागिम्यम्य	म्यागि म्यम्य
४३	६	म्यागि	म्यागि
४४	६		तुम्य
४४	८	मम्य	मम्या

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४६	१२	मोक्षदायक	मोक्षदायक
५०	४	चित्रानल	चित्रावेल
५३	१५	घारह	ग्यारह
५४	४	मूर्ति	मूर्तिओं
६१	१०		रह
६६	२०		वगैरह
६७	१५		वगैरह
७०	१	सुबाहुकुमार	सुबाहुकुमारको
७०	६	अमदारम्भ	अमदारम्भ से
७२	५		जिनाज्ञा
७२	११	हवन	हनन
७३	१२	महाभाषा	महाभाष्य
७३	१४	फमति	फर्मान
७४	१६	जिनविरहमि	जिणविरहमि
७४	१८	जहाजाय	अहाजाय
७४	१९	कितिकम्म	क्रित्तिकम्मे
७५	५	है	ह
७५	५	हह	ह

प्रष्ट	पन्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६	४	से	सा
८४	३	उदण्डजयो	उदण्डजाभो
८४	१८		कर्त्तव्य
८६	६		
८६	११	अहयाइमेताइ	अहयाइ यमेताइ
८६	१५	वाद	चाद
८७	११	मानो	मानो
८७	१६	उवागच्छइत्ता	उवागच्छइत्ता
८७	१६	अणुप्पविमइ	अणुप्पविसइ
८७	१७	अणुप्पविमइत्ता	अणुप्पविमिइत्ता
८८	१	ईसिं	ईसिं
८८	२	अरिहत्तार्ण	अरिहत्तार्ण
८८	६	बलि	बलि
८८	५	श्री महाकल्पवृत्त	श्री महावृहत्कल्पवृत्त
८९	१५	इ	हां,
८९	१६	महु	महु
८९	१६	जिणाययणेहि	जिणाययणेहि

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	६	धूमसय	द्रूमसय
६३	६	चउवीसं	चउवीम
६४	१५	आयामधिरकभेण	आयामवियखभेण
६५	१	उन्मीलन	उन्मीलन
६५	४	तणा	तणा
६५	४	जेनो	जेणों
६५	४	वहेरो	दहेरा
६५	४	कराव्पो	कराव्यां
६५	५	वचन	रचने
६५	६	बंसे	बसे
६५	१७	दहेरा	दहेरां
६५	१७	कराव्या	रूराव्यां
६७	५	माहे	मोहे
६८	२	तुम	तुम्ह
६८	५	ऐ	ए
६८	७	सरखी	सरिखी
६९	१४	वलि	वली
६९	६	वरिया	ररियो

ॐ ह्रीं श्रीं शंखेश्वर पारमनाथाय नमः

# श्री प्रभु पूजन का शास्त्रोक्त महत्त्व

## श्री सुविधिनाथ भगवान् का स्तवन

( योगिराज श्री आनन्दघनजी प्रिचित )

सुविधि त्रिणसर पाय नमीने, शुभ करणी एन कीने रे ।  
अति घणो उज्जट अग घरीने, प्रह उठीने पूजीजे रे ॥१॥  
द्रव्य भाय शुचि भाव घरीने, हरते देहरे जइपरे ।  
दह तिग पण अहिगम साचवता, एकमना घुरि यईण रे ॥२॥  
कुसुम अक्षत वर वास सुगंधी, धूप दीप मन साखी रे ।  
अग पूजा पण भे सुणी इम, गुरु मुख आगम माली रे ॥३॥  
एतनु फल दोय भेद सुणीजे, अतत्तर ने परम्पर रे ।  
आखापालन चित्तप्रसन्नी, सुगति सुगति सुरमदिर रे ॥४॥  
पुन अक्षत वर धूप पइवो गध नैरेश फल चल भरी रे ।  
अग अग्रपूजा मली अहविध, भावे भविष्य शुभ गति वरीरे ॥५॥  
सत्तर भेद एकधीस प्रकारे, अठोत्तर शत भेदे रे ।  
भावपूजा अहविध निरधारी, दोहग दुरगति छेदे रे ॥६॥  
सुरिय भेद पढिवत्ती पूजा, उपशम खीण सयोगी रे ।  
चन्दा पूजा इम उत्तरमयणे, भापो कवल भोगी रे ॥७॥  
इम पूजा बहु भेद सुणीने, सुखदायक शुभ करणी रे ।  
भविक नीय करशे ते लेशो, आनन्दघन 'पद' घरणी रे ॥८॥

## प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—सम्यक्त्वधारी श्रावक ६ काया के आरम्भ-वाली प्रभु पूजा का आचरण कैसे कर सकता है ?

उत्तर—हे भव्य ! ऐसा विचार श्री जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा से बाहर है, क्योंकि जो क्रिया यतना और भक्ति पूर्वक है, उस क्रिया में शास्त्रकारों ने दोष नहीं बतलाया ।

यदि यतना और भक्ति पूर्वक आचरित क्रिया में यत्किंचित हिंसा का लेश होने से उसे दूषित कहोगे तो फिर प्रतिक्रमण, मुनिदान, साधु विहार आदि क्रियाओं में भी दोष की पुष्टि माननी पड़ेगी । प्रतिक्रमण में उठते, बैठते वायु काया के जीवों की हिंसा होती है । मुनि विहार में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की हिंसा होती है और रेहन्द्रिय आदि त्रस जीवों का भी घात होता है । भगवती सूत्र में शय्य पुष्कली आदि श्रावकों का अधिकार में साधर्मिक वात्मन्य में विपुल अशन रधाने और पान, छादिम, स्वादिम, आहार तैयार कराने का वर्णन आता है । स्थानाग सूत्र में जल म डूषित साधु को साधु तैर कर निकाले ऐसी आज्ञा है । ज्ञान

घृत् में जो दीक्षा लेवे उसके घर का निर्वाह कृष्णजी ने करने की घोषणा की है ।

प्रश्न—हिंसा से युक्त होने पर भी क्या इन सब को दोष युक्त नहीं मानोगे ?

उत्तर—यतना श्रीर भक्ति पूर्वक की गई ये सब क्रियाएँ निर्दोष मानी जाती हैं । उसी प्रकार यतना श्रीर भक्ति पूर्वक की गई प्रभु पूजा भी मर्त्या निर्दोष है । तथा शुभ अध्यवसाय होने से अशुभ कर्म बन्ध हो ही नहीं सकता । प्रभु वीर परमात्मा के हस्त दीक्षित श्री धर्मदासजी गणि उपदेश माला की चौबीसवीं गाथा में लिखते हैं कि—“आत्मा जिस २ समय जैसे शुभ अथवा अशुभ परिणाम में प्रवर्तता है, उस समय वह वैसे ही शुभ अथवा अशुभ कर्म बाँधता है ।”

पूजा करने वाले के ऐसे परिणाम होते ही नहा कि जल, पुष्प आदि के जीवों का विनाश करू ! परन्तु पूजा रमिक भव्यात्मा का लक्ष्य सिन्दु यह होता है कि तरण-तारण परमात्मा का पूजन करके आत्मिक उन्नास पूर्वक शुभ अध्यवसाय द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल करूँ और दुःख समय ससार समुद्र से तरू । ऐसे सुन्दर परिणामों में रमय करता हुआ वह धव्यात्मा यतना पूर्वक जल से



## प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—मम्यक्त्रधारी श्रावक ६ काया के आरम्भ वाली प्रभु पूजा का आचरण कैसे कर सकता है ?

उत्तर—हे भव्य ! ऐसा विचार श्री जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा से बाहर है, क्योंकि जो क्रिया यतना और भक्ति पूर्वक है, उस क्रिया में शास्त्रकारों ने दोष नहीं बतलाया ।

यदि यतना और भक्ति पूर्वक आचरित क्रिया में यत्किंचित हिंसा का लेश होने से उसे दूषित कहोगे तो फिर प्रतिक्रमण, मुनिदान, साधु विहार आदि क्रियाओं में भी दोष की पुष्टि माननी पड़ेगी । प्रतिक्रमण में उठते, बैठते वायु काया के जीवों की हिंसा होती है । मुनि विहार में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति की हिंसा होती है और रेक्षन्द्रिय आदि उस जीवों का भी घात होता है । भगवती सत्र में शर पुष्कली आदि श्रावकों के अधिकार में साधर्मिक वात्सल्य में विपुल अशन रधाने और पाग, खादिम, स्वादिम, आहार तैयार कराने का वर्णन आता है । स्थानाग सत्र में जल में डूबती साध्वी को साधु तैर कर निकाल ऐसी आज्ञा है । ज्ञाता

सूत्र में जो दीक्षा लेने उसके घर का निर्वाह कृष्णजी ने करने की घोषणा की है ।

प्रश्न—हिंसा से युक्त होने पर भी क्या इन सब को दीप युक्त नहीं मानोगे ?

उत्तर—यतना श्रौर भक्ति पूर्वक की गई ये सब क्रियाएँ निर्दोष मानी जाती हैं । उसी प्रकार यतना श्रौर भक्ति पूर्वक की गई प्रभु पूजा भी सर्वथा निर्दोष है । तथा शुभ अध्यवसाय होने से अशुभ कर्म बन्ध हो ही नहीं सकता । प्रभु वीर परमात्मा क हस्त दीक्षित श्री धर्मदासजी गण्डि उपदेश माला की चौबीसवीं गाथा में लिखते हैं कि—“आत्मा जिस २ समय जैसे शुभ अथवा अशुभ परिणाम में प्रवर्तता है, उस समय वह वैसे ही शुभ अथवा अशुभ कर्म बाँधता है ।”

पूजा करने वाले के ऐसे परिणाम होते ही नहा कि जल, पुष्प आदि के जीवों का विनाश करू ! परन्तु पूजा रमिक भव्यात्मा का लक्ष्य निन्दु यह होता है कि तरण-तारण परमात्मा का पूजन करूँ आत्मिक उद्धार पूर्वक शुभ अध्यवसाया द्वारा अपनी आत्मा को निर्मल करूँ और दुःखमय सत्सार समुद्र से तरू । ऐसे सुन्दर परिणामों में रमण करता हुआ वह धन्यात्मा यतना पूर्वक जल से

स्नान करके बाद्य और अभ्यन्तर पवित्र होकर घीतराग प्रभु की शान्तमय प्रतिमा का दर्शन करता है, चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ से विलेपन करता है, पुष्प चढ़ाता है, धूप दीपक प्रगट करता है। इन मय क्रियाओं को वह भक्ति और यतना पूर्वक करता है। इन क्रियाओं में जल पुष्पादि के जीवों का विनाश करने का परिणाम नहीं होता, अपितु वह तो प्रभु भक्ति में तन्मय बन जाता है। अध्ययसाय बिना बन्धनरूप कर्म कैसे लग सकते हैं ?

चौदह पूर्वधारी श्री मद्रनाडुस्वामी श्री आवश्यक सूत्र की निर्युक्ति में फरमाते हैं कि देशविरति श्रावक के लिए द्रव्य पूजन करना योग्य है। वह द्रव्य पूजन सप्ताह का चयन करने वाला है। द्रव्य पूजन पर दुष्ट का दृष्टान्त समझना। जैसे किमी नये बसे हुए गाँव में अधिक जल न होने के कारण प्यास आदि से पीड़ित लोग नया कुत्था खोदते हैं। पहले तो कुत्था खोदते समय प्यास बढ़ती है, ऋषभे भी मैले हो जाते हैं परन्तु कुएँ से पानी निकलने पर उसमें न केवल अपनी प्यास ही बुझा लेते हैं और मैल दूर कर लेते हैं परन्तु पहले के गदें कपड़ों की मैल दूर करके उनको भी निमैल बना डालते हैं। उसी प्रकार द्रव्य पूजन में यत्किंचित सावध है। किन्तु यह कर्मबन्ध का हेतु नहीं है अपितु उससे परिणाम की शुद्धि होती है इसलिये कर्म निर्जरा का हेतु ही शुभ परि-

णामों द्वारा वह पूर्व मचित धर्मों का नाश करता है, निवेक और उदारता पूर्वक द्रव्य पूजन करके वह शासन की भी उन्नति करता है और हमसे दूरे भी बोध को प्राप्त होकर अनुमोदना करते हैं। इस प्रकार स्व और पर आत्मा व कर्म मल दूर करने वाला होने से द्रव्य पूजन श्रावणों को असंभव करना चाहिये।

प्रश्न—मूर्ति जड़ है। उसको पूजन में क्या लाभ ?

उत्तर—जड़ में इतनी शक्ति है कि चैतन्य को हानि लाभ पहुंचा सकता है। दश वैशालिक सूत्र में आघात है कि बड़ा स्त्री का चित्र हो यहाँ साधु न ठहरे। चित्र लिखित स्त्री जड़ होने पर भी, चित्त चंचल कर देती है। बड़ भाग चैतन्य का मान (दोष) भुला देती है। जड़ सूत्र चैतन्य को बोध कराते हैं। इसी भांति जड़ मूर्ति आत्मा के मलिन मन को निर्मल बना देती है। मित्रों ! ज्ञान बल का जड़ मस्मरेज्म और साहस कसे व चमत्कार दिखा रहे हैं, फिर यहाँ जड़ के बारे में कोई शक न करके केवल मूर्ति को ही जड़ मान उससे कुछ न मानना अपनी अज्ञानता का द्योतक नहीं तो और क्या है ?

प्रश्न—क्या जड़ चैतन्य को लाभ-हानि पहुँचाता है ?

उत्तर—हा ! जड़ में भी उपचार (आरोप) करने से भाव को असर पहुँचाता है । मैं पृथ्वी हूँ, एक गृहस्थ साधु बने—इसमें आप बाह्य क्रिया से सामायिक त्रुटों का उपचार (आरोप) ही करते हो, कपड़े पहनाते हो, रजोहरण देते हो, सब जड़ ही है—भाव तो उमका कोई प्रगट दिखलाई देता ही नहीं है, फिर भी उसको वन्दन करने का भाव पैदा होता है, वन्दन करके आत्मा कृत-कृत्य बनता है, कर्म निर्जरा होती है, यह सब कमाई सिर्फ उसको साधु मानने से ही होती है । बिना भाव जाने उसको साधु मानना मनाना वह उपचार रूप ही है । एक कन्या का व्याह किमी लडके के साथ होता है । वह भी उपचार ही है, किन्तु इस उपचार से दोनों को आपस में काम राग स्नेह राग का विचार होता है । एक नौकर जब नौकरी मजूर करता है, तब अपने मालिक की तरफ उसको विनयभाव पैदा होता है । यह भी उपचार का ही फल है । नौकरी छूट जाने पर ऐसा भाव भी छूट जायगा । एक आदमी अपने शरीर पर सरकारी पुलिस का बेष पहनता है, यह भी उपचार ही है किन्तु पुलिस के कपड़े पहनते ही उसके दिल में मत्ता का पाथर पैदा होता है । एक विद्यार्थी अपने शिक्षक के पास पढ़ाई शुरू करता है—उसे शिक्षक मानता है, वह भी उपचार ही

है, किन्तु इस उपचारसे विद्यार्थी अपने को लघु मानता है, शिष्य के प्रति बटुमान पैदा करता है। इस तरह जैन दर्शन के सब व्यवहार-धर्म उपचार से ही सिद्ध हैं। सामायिक के समय मुखवस्त्रिका रचोहरण ( चरपत्नी ) वगैरह धारण करने पर श्रावक को सामायिक का भाव पैदा होता है, यह भी जड का उपचार ही है, साधु साधु वेप पहनते ही अपने को प्रवृत्ति में मर्यादित बनाता है यह भी जड का सहारा है, इस तरह सब व्यवहार जड से ही चलता है। निश्चय धर्म आत्म गुणों के आलम्बन से होता है। व्यवहार धर्म जड के आलम्बन से होता है। जड के सहारे से व्यवहार धर्म करते करते आत्मा को भाव पैदा होता है। यह बात सब प्रवृत्तियों से सिद्ध है। इस तरह जडमूर्ति में शास्त्रोक्त विधि से तीर्थङ्करपना का उपचार किया जाता है। जब उसको देखते ही तीर्थङ्कर-वत् मान (रयाल) पैदा होता है। एक कागज के टुकड़े का बनाया हुआ मनुष्य का आकार व फोटू या चित्र सब जड होते हुए भी पहचान कराता है, राग द्वेष कराता है, इस तरह जिन प्रतिमा भी उसके गन्त को राग क्यों पैदा न करे ? एक आदमी अपने घर को पहचानता है। उममें घर का आकार ही मुख्य कारण है। अपने कपड़े को, बरतन को, यावत् कोई भी पदार्थ को पहचानता है

इसमें आकार ही मुख्य कारण है। जगत् के व्यवहार मात्र में आकृति का आश्रय है। अपने स्वजनों की पहचान, राग वगैरह होता है, वह भी उसकी मुखाकृति क पल में होता है। ज्यादा क्या समझावे—चब तक आत्मा को जड़ की पराधीनता है, अपना काम जड़ इन्द्रिया व मन के आधार पर करना निश्चित है, तब तक उसको बिना जड़ की सहाय कुछ करना शक्य नहीं है। चौदहवें गुणस्थान में जब मन-वचन काया के योगों का निरोध होता है, अयोगी अग्रस्था आत्मा की होती है, तब ही बिना जड़ की सहायता वह कर्म को नाश कर सिद्ध होता है। आप मानो या न मानो जीव को नेत्र (चक्षु) की सफलता आकार से ही है। यदि आकार कुछ काम का नहीं है, तो नेत्र से आप क्या काम करोगे? आपके नेत्रों का फल ही क्या होगा? ( ऐसे तो एकेन्द्रिय, वेदन्द्रिय, तेदन्द्रिय के समान ही चउरिन्द्रिय, पचेन्द्रिय भी होंगे, न उसको नेत्र से कोई लाभ होगा? ) मध्यस्थ धन जगत् के स्वरूप का ख्याल करने पर तुरन्त ही यह बात समझ में आयेगी। सूक्ष्मबुद्धि और निष्पक्षता धर्म के मूल में आवश्यक है। जो लोग मूर्ति को नहीं स्वीकारते, उनका कोई भी व्यवहार बिना मूर्ति नहीं होता है। मूर्ति का अर्थ है प्रकृत रूप-आकार और रूप आकार जिसमें है सब

मूर्ति नहीं जाती है । श्री विन के आकार को जिनमूर्ति कहते हैं । सुभ्र मात्र जिन की सेवा भी उनके आकार द्वारा होती है । आत्मा अरूपी—अमूर्त है, उसका दर्शन बन्दनादि कुछ नहीं बनता, गरीर का ही दर्शन बन्दनादि होता है । उसका ज्ञान गुण भी अरूपी है फिर भी अक्षरों के आकार में उसकी मक्ति होती है । भाषावर्गणा व पुद्गलमे ही ज्ञान को प्रगट करते हैं, शब्द मात्र पुद्गल का आकार ही है । यह पन्से श्रवण करनेमे जैसे ज्ञान गुण पैदा होता है, इसी तरह जिनमूर्ति वीतरागता का आकार जड़ होने पर भी उसकी देखनसे, स्तुति करनेमे, पूजन करने से वीतरागता पैदा होती ही है । [ दूर्मव्य को या अमव्य को ही द्वेष होता है । मिठाई अच्छी होने हुए भी रोगी को द्वेष होता है उसमें रोग कारण है, इस तरह मूर्ति उपकारी होते हुए भी द्वेष पैदा होना कर्म रोगों का ही कारण है, इत्यलम् । ]

प्रश्न—भगवान् ने तो दान, शील, तप एव भाव यह चार प्रकार का धर्म बतलाया है । मूर्तिपूजामे कौनसा धर्म है !

उत्तर—(१) पूजा में श्रद्धतादि द्रव्य अर्पण मिय जाती है यह सुपात्र में दान हुआ ।



कार्य ही नहीं होगा, फल यह आया कि देव आगामी मनुष्यायुष्य का बन्ध ही नहीं करेगा । सबको एक ही तिर्यञ्चगति की प्राप्ति होगी । आप कहिये ! देव मनुष्य बनता है इसमें क्या कारण है ? इसकी सत्र करणी मात्र आचार ही बन जायगी, कोई क्रिया धार्मिक नहीं होगी ।

प्रश्न—तप समय से कर्मों का क्षय होना बतलाया है पर मूर्ति पूजा से कौन से कर्मों का क्षय होता है ? वहाँ तो उल्टा कर्म बन्धन है ।

उत्तर—मूर्ति पूजा तप समय से रहित नहीं है । जैसे तप समय से कर्मों का क्षय होता है वैसे ही मूर्ति पूजा से भी कर्मों का नाश होता है, जरा पक्षपात का त्याग कर देखिए मूर्ति पूजा की किस २ क्रिया से कौन से कर्मों का क्षय होता है !

(१) चैत्यवन्दनादि भगवान् के गुण स्तुति करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय !

(२) भगवान् के दर्शन करने में दर्शनारणीय कर्म का नाश !

(३) प्राण भूत जीव मत्व की करुणा से अमाता वेदनीय का क्षय ।

(४) अरिहतों के गुणों का या सिद्धों के गुणों का स्मरण करने से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति और मोहनीय कर्म का क्षय होता है ।

(५) प्रभु पूजा में तल्लीन और शुभ अध्यवसाय से उमी भय में मोक्ष प्राप्ति होती है, यदि ऐसा न हो तो शुभगति का आयुष्य बन्ध कर क्रमशः ( भवान्तर से ) भी मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

(६) मूर्तिपूजा में अरिहन्तादि का नाम लेने से अशुभ नामकर्म का नाश ।

(७) अरिहन्तादि की वन्दन या पूजन करने से नीच गोत्र कर्म का क्षय ।

(८) मूर्ति पूजा में शक्ति का सदुपयोग और द्रव्यादि का अर्पण करना अन्तराय कर्म को दूर करता है ।

[ उपर्युक्त समाधान स्थूल दृष्टि का है । वास्तव में तो मूर्तिपूजा में जो द्रव्यपूजा है इसका फल 'पुण्यबन्ध' है । यह पुण्य उदित होने पर आत्मा पापी मन वचन-काया को परित्र बना कर घाती कर्मों के नाश में सहायक बनाता है और घाती कर्मों का घात होने पर पुण्य आप ही आप छूट जाता है । जैसे एक आदमी को विरुद्ध आहार

से मल का अवरोध हुआ, शरीर अस्वस्थ हुआ, चुरार आया, बाद में घरडी का तेल ( रेच ) लिया; यह तेल मल को हटा कर पेट को साफ करेगा, बाद में स्वय निकल जायगा और शरीर स्वस्थ होगा । इसी भाँति शुभ पुण्य कर्म भी घाती कर्मों का घात कर आत्मा को सम्पूर्ण आरोग्य ( कवल ज्ञानादि को ) प्राप्त करा कर आत्मा से स्वय छूट जायगा । जिन दर्शन में निश्चयनय की यह मान्यता है कि आत्मा ही आत्मा का प्रकाशक होता है, कर्म ही कर्मों का घातक है, न आत्मा कर्म को और कर्म आत्मा को कुञ्च कर सकता है अतः कर्मों का नाश के लिए शुभ पुण्य आवश्यक है । यह बातें 'स्याद्वाद' को समझे बिना नहीं आती । ]

प्रश्न—यह समझ में नहीं आता कि अष्टमी, चतुर्दशी जैसी पर्व तिथियों में श्रावक लोग हरी वनस्पति खाने का त्याग करते हैं तो भगवान् को फल फूल कैसे चढ़ा सकते हैं ?

उत्तर—[यह तो आपकी समझ में था सकता है कि अष्टमी चतुर्दशी के दिन उपवास करने वाले श्रावक घर पर आये हुए साधुओं को भिक्षा दे सकते हैं और उनको पुण्य भी होता है । जब आप खाने का त्याग करने पर भी दूसरों को खिलाने में पुण्य समझते हैं तो श्रावकों को

पुष्पादि में पूजा करने से लाभ क्यों नहीं? यहाँ पर आप पुष्पा का तोड़ना बगैरहँ दीखोगाली हिंसा को हिंसा समझते हो, तो दूसरे अंश में जिन पूजा रूप लाभ को भी समझते रहो। तभी आपकी सब बातों का सिमाधान होगा। जैसे घर में भोजन का और बाजार में दुकान का (नौकर-माँढ़ो-ध्याज बट्टा का) खर्च रूप होने परी आमदनी के कारण एक उपादेय है दूसरा कम करने जैसा है। तीसरी सुरापान, पेश्यागमन, नाटके मिनमा, पेचखादि कई प्रकार के खर्च एकान्त हानिकर है, देप है। इसी प्रकार शिकार मामाहार भक्षण आदि-से जो हिंसा होती है वह आत्मा को एकान्त भय भ्रमण कराने वाली भव्या देप है, दूसरी जीव के विषय में आवश्यक जल पीना, भोजन बनाना इत्यादि कार्यों को हिंसा यथा शक्य कम करना आवश्यक है और तीसरी जिन पूजा गुरु सेवा, माघमिक भक्ति जिन मंदिर मूर्ति बनाना पुस्तक लिखाना, छपाना, स्थानक-उपाश्रय पोषणशाला बनाना, बगैरहँ धर्म कार्यों की दिखने वाली हिंसा आत्मा को समार से वैराग्य, सम्यक्त्व की प्राप्त युद्ध

और वृद्धि, ज्ञान की प्राप्ति निर्मलता, और शुद्धि के साथ चारित्र्य धर्म की प्राप्ति रूपों कई प्रकार की आत्मोन्नति कराने वाली होने में ऐसे कार्य विशेष करना आत्मा का हित है। धीतराग परमात्मा के शासन में मात्र शुद्धि का कर्मबन्ध की दृष्टि से महत्त्व हाने पर भी भावों की विशुद्धि में जिनाज्ञा की अत्यन्त प्रधानता बताई। बिना इसके जगत के अनेक माननीय धर्म वृद्धि से स्व-स्वमत के शास्त्रों से प्रतिपादित होने के नाते ही अनेक सारण्य कर्मों को करते हैं जिन्हें कि धीतराग शासन-मिथ्यात्व की क्रिया कहता है उन्हीं के परापर अपनी क्रियाएँ भी जिनाज्ञा की प्रधानता का अभाव में भले ही विशुद्ध भाव से की गई होने पर भी मिथ्यारूप हो जाय अतः जिनाज्ञा की प्रधानता को लेकर यहाँ प्रतिपादन करना उचित है स्वरूप हिंसा को ज्ञानियों ने मात्र अहिंसा शब्द से परमार्थ अहिंसा ही बताई है।

किंचित हिंसा या १४वें गुण स्थान तक न पहुँचे तब तक कुछ तो हिंसा लगे ही ऐसा स्वीकार कर प्रभु पूजा में हुए द्रव्यस्तव की स्वरूप हिंसा को सारण्य मानने की चेष्टा बड़ी भयंकर है।

प्रश्न—आप निन प्रतिमा को जिन सारखी कहते हो, क्या यह मिथ्या नहीं है ?

उत्तर—आप ही बतलाइए, यदि निन प्रतिमाओं को जिन मारखी नहीं कहें तो फिर क्या कहें ? उन्हें किमके सारखी कहें ? क्योंकि यह आकृति सिनाय जिन के और किमी क सदृश नहीं है जिससे कि उनकी मरीखी कहें । निन प्रतिमाओं को निन सारखी सूत्रों क मूलपाठ में भी कहा है । जैसे जीगभिगम सूत्र में लिखा है कि “धूव-दाऊण जिनपराण” अर्थात् “जिनराज को धूप देन बाद” अब आप निचार करें कि देवताओं के भजन में निन-प्रतिमाओं के सिनाय कौनसे जिनराज हैं ।

[पदार्थ मात्र क नाम,स्थापना (आकृति) द्रव्य और भाव चार निचेप होते हैं । आप कहिए जिन का नाम जिन की बराबर है या नहा ? यदि नहीं है, तो अपने से क्या लाभ ? आप क्या नामचाप नहा करते ? निन का मृतरु निन के बराबर है या नहीं ? यदि नहा है तो निर्माण के बाद निन के शरीर को इन्द्राणि देवों ने क्यों पूजन किया ? गुरु रु शरीर को रोग हो तो आप उसकी दवाई क्यों करते हो ? बीमारी गुरु को है या गुरु के शरीर को ? यदि शरीर को है तो ‘गुरु को बुरार चढ़ा

है' ऐसा क्यों बोला जाता है ? आप गुरु के चरणों को क्यों पूजते हैं ? क्या गुरु के चरण गुरु हैं ? यदि चरण गुरु सदृश हैं तो जिन मूर्ति ने क्रिया अपराध किया है कि उसको जिन सदृश न मानें ? मृतक देह की भी भक्ति आशातना होती है तो मूर्ति की क्यों नहीं ? बुद्धि से मोच कर सत्य को स्वीकार करना ही सच्चा मार्ग है ।]

प्रश्न—यदि मूर्तियाँ वीतराग की हैं तो वीतराग तो त्यागी थे फिर उनकी मूर्तियों को भूषणादि से अलंकृत कर उन्हें भोगी क्यों बनाया जाता है ?

उत्तर—जो सच्चे त्यागी हैं, वे दूमरों के बनाय भोगी नहीं बन सकते, यदि बनते हों तो तार्क्य पर समवसरण में रत्न सचित्र सिंहासन पर विराजते हैं पीछे उनके भामण्डल, अशोऋक्ष, सिर पर तीन छत्र और चारों ओर इन्द्र चामर के फटकार लगाये करते हैं आकाश में धर्म चक्र एवं महेन्द्र ध्वजा चलती है तथा स्वर्ण कमलों पर वे सदा चलते हैं और ढीचन प्रमाण पुष्प के ढेर एवं सुगन्धित धूप चतुर्दिशि फैलाया जाता है । कृपया कहिये यह चिह्न भोगियों के थे या त्यागियों के ? यदि दूमरों की भक्ति से त्यागी भोगी बन जाय तो फिर वे वीतराग कैसे ? असल बात तो यह है कि भातुकात्मा जिनमूर्ति

का निमित्त लेकर वीतराग की भक्ति करते हैं निमित्तसे इनके चित्त की निर्मलता होती है और क्रमशः मोक्षपद की प्राप्ति भी हो सकती है ।

प्रश्न—यदि यह मूर्तियाँ मिट्टी की हैं तो इन पर कच्चा पानी क्यों ढालते हैं ।

उत्तर—भगवान् महावीर मृत्त हो गए । फिर भी अब आप क्यों कहते हैं कि अमुक दिन भगवान् गर्भ में आये । भगवान् का जन्म हुआ । इन्द्र ने मेरु पर्वत पर ले जाकर हजारों पल्लवों से भगवान् महावीर का स्नात्र महोत्सव किया । इत्यादि आप सुँह से कहते हैं सो यह क्या है ? यह भी तो द्रव्य जिन के पूजन को ही सिद्ध करता है । भेद केवल इतना ही है कि आप तो मात्र-वाणी से कहते हैं । हम उम साक्षात् करके बता देते हैं ।

[वास्तव में तो नाम स्थापना और द्रव्य, भाव के प्रतीक हैं । भाव तत्र है । जैसे जन्म के समय भगवान् 'भाव अरिहत' न होते हुए द्रव्यजिन थे, इस कारण भगवान् को मेरु पर्वत पर इन्द्रादि देवों ने कच्चा जल-पुष्प वगैरह से स्नात्र पूजन वगैरह किया, इसी न्याय से भगवान् की मूर्ति भाव जिन नहीं किन्तु स्थापना जिन है इससे द्रव्य जिन की भाँति स्थापना जिन का भी कच्चा जल पुष्प



आदि से पूजन हो सकता है, गुरु के मृतक को स्नान कराना, जलाना वगैरह अनुचित नहीं है क्योंकि मृतक भाव गुरु नहीं है, द्रव्य गुरु है, उस न्याय से जिनमूर्ति स्थापना जिन है, उनको स्नान वगैरह कराना किंचित भी अनुचित नहीं है, वन्कि भक्ति है। जिनको भक्ति से द्रव्य स्थापना नाम सच्चि जल पृष्ठी का स्पर्श कराना अनुचित नहीं है।

प्रश्न—मंदिरों में अधिष्ठायक देवों के होते हुए भी चोरिया क्यों हो जाती हैं ?

उत्तर—यह तो स्थापना है पर प्रभुवीर के पास एक करोड़ देवता होने पर भी दो साधुओं को गोशाला ने कैमे जला दिया था ? भला भवितव्यता भी कोई टाल सकता है। [रास्त्र में वीतराग तो राग द्वेष रहित हैं। उनके अधिष्ठायकों का यह कर्त्तव्य है कि वे चोर डाकुओं को हटा दें। किन्तु वे छद्मस्थ हैं। पाँचों इन्द्रियों के भोग में फँसे हुए अचिरत हैं। इस कारण उनका उपयोग न होना असम्भवित नहीं है। ऐसे अनुपयोग के कारण चोर वगैरह चोरियाँ कर सकते हैं। चोरी करने पर अधिष्ठायक का उपद्रव होने पर चोरी का धन वापिस देने का प्रसंग गुजरात के श्री शखेश्वर पार्श्वनाथ वगैरह की तीर्थ भूमि में बना है। आज चोर वहाँ पर चोरी करते ही नहीं

हैं। सब जगह अधिष्ठायकों का उपयोग होना अनिश्चित है। गुजरात के मातर-भोयणी, पानवर शणेश्वर वगैरह कई तीर्थों के अधिष्ठायकों का फर्त्तव्य देखने वाले लोग आप भी मौजूद हैं। जाकर उनसे पूछिये, अधिष्ठायक का प्रभाव कैसा है। अरे ! दक्षिण भारत में अन्तरीक्षजी तीर्थ में श्री पार्वी प्रभु की मूर्ति आज भी निराधार भूमि में बिना स्पर्श स्थित है। क्या बिना आधार इतना बचन वाला पाणा अघर रह सकता है ? उनका दर्शन करने के लिए रिदेशी भी कई अबसरों पर आते हैं। फोटू ले जाते हैं, और मूर्ति एक सत्य तत्त्व है, इस बात को स्वीकार कर आते हैं। महानुभाव ! जैन धर्म की बिना प्राप्ति मिथ्यात्वी लोग भी जैन मूर्तियों को सत्य-देव मानते हैं, पूजते हैं, फिर आपको क्या अधिक कहा जाय ? मध्यस्थ बनकर सूक्ष्म बुद्धि से मोचने पर आपको पता चलेगा। आप खुद भी सब व्यवहार में मूर्ति को स्वीकार कर रहे हो, फिर निनमूर्ति आपको मिथ्या दिखालाई देती हैं।

प्रश्न—जब आप मूर्ति को पूजते हो तब मूर्ति बनाने वाले को क्यों नहीं ?

उत्तर—आप अपने गुरु को वन्दना करते हैं परन्तु उनके गृहस्थावस्था के माता पिता को जिन्होंने उनका

शरीर उत्पन्न किया है, वन्दना क्यों नहीं करते ? वास्तव में हम तो मूर्ति को बनाने वाले सिल्लाइट वर्गैरह का भी सत्कार सन्मान करते हैं, सिर्फ हमारे धर्म का आधार श्री जिनमूर्ति को बनाने वाला समझकर, मिलावट कोई जिन नहीं है, कलाकार है। पूजा उनकी होती है जो अनन्त ज्ञान-दर्शन चारित्र्य धीर्य वर्गैरह गुणों का आधार हैं। मूर्ति जिनके गुणों का स्मरण कराती है, और उनके प्रति पूज्यभाव बढ़ाती है। जिनके चारित्र्य का दर्शन कराती है, इत्यादि उपकार से हम मूर्तिपूजा करते हैं। जिन का शरीर जिन को वीतराग बनने में सहायक है, और भव्यजीवों को देशनादि द्वारा ज्ञान दर्शन चारित्र्यादि सिखाता है, इस कारण से जिन के द्रव्य शरीर को भी पूजते हैं और उनके नामाक्षर पढ़ते, सुनते, जपते हि श्री जिनेश्वरदेव हमारे अन्तर में (ज्ञान में) उपस्थित होते हैं। इस कारण नाम को भी पूजते हैं, जिस जिससे हमारे ज्ञानादि गुणों के विषय में उपकार होता है वह सब पूज्य हैं। उसकी पूजा करना कृतज्ञता है, परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न—प्रतिमाओं के पूजने से मोक्ष होता है तो तप मयम आदि कष्ट क्रिया की क्या जरूरत है ?

उत्तर—प्रतिमा पूजना मोक्ष का कारण है, हममें कोई सन्देह नहीं। फिर भी यदि आपका प्रश्न है तो स्वयं ही वतलाए कि दान शील को मोक्ष का कारण मानते हैं तो दीक्षा लेने का कष्ट क्यों किया जाता है ? परन्तु बन्धुओ ! बात ऐसी है कि दान, शील, मूर्ति पूजन यह सब मोक्ष का कारण है फिर भी जैसे गेहूँ चीज से पैदा होता है, फिर भी अद्भुत-जल, वायु भूमि की अपेक्षा रखता है वैसे ही मूर्ति पूजन आदि भी तप, सयम आदि साधनों के साथ अपेक्षित हैं [वास्तव में तो तप, सयम, दान, शील आदि जो कुछ भी धर्म कार्य किया जाता है वह भी निज पूजा ही है, सिर्फ मूर्ति पूजा से जिन पूजा पर्याप्त नहीं है। आगे बढ़ कर निनाज्ञा का पूण पालन उत्कृष्ट जिन पूजा है। इस कारण तो मूर्ति पूजा से आगे बढ़ कर निनाज्ञाका सविशेष पालन करने के लिए दीक्षा लेना आवश्यक है। क्या कोई लड़का अपने पिता की सेवा करता हुआ पिता की आज्ञा न माने वह पिता की सेवा है ? और एक लड़का आज्ञा मानने पर भी पिता को प्रणाम न करे वह क्या आज्ञा पालन कहा जाता है ? क्या अपमान अनादर अघूया करने पर पितृ-भक्त कहलाता है ? नहीं, कभी ऐसा नहीं बनता कि आज्ञा मानने पर भी विनय न करे तो भक्त कहा जाय। भक्त

करना आवश्यक है। इस कारण से तो श्रावक साधु की पूजा भक्ति-सेवा करते हैं, जैसे साधु-गुरु की सेवा से व्रत (चारित्र्य) और उनके ज्ञानादि गुणों की सेवा होती है और श्रावक फल में साधु बन सकता है। उसी तरह जिन पूजा से श्रावक और साधु जिनके गुणों की पूजा करता है, फलतः वह जिन वीतराग हो सकता है। अब समझ में आया होगा कि मूर्तिपूजा गुरु पूजा की भाँति गुण पूजा है, गुणों को प्राप्त कराती है, अतः निर्गुणी को मूर्तिपूजा करना आवश्यक है ]

प्रश्न—हम ३२ सूत्रों को मूल पाठ मानते हैं और मिलती हुई टीका वगैरह भी मानते हैं !

उत्तर—मिलती का क्या अर्थ होता है ? जब एक वस्तु के सामने दूसरी वस्तु रक्खी जाती है तब मिलती-नहीं मिलती कही जा सकती है, सो तो आपके पास कुछ प्रमाण है नहीं, फिर किससे मिला के मानते हो ? सज्जनों, आप जानते हो, धृष का मूल धूल में रहता है और शाखा, प्रति शाखा, पत्र, फल में रस मिलता है। इसी भाँति मूल सूत्र सूत्रमात्र है, पर उनका भावार्थ पञ्चाङ्गी द्वारा ही ममभा जाता है। यदि आपका यही आग्रह है कि हम तो ३२ सूत्र मूल ही मानते हैं, तो पतलाइये कि आपके माने हुए

३२ छत्रों के मूल में मूर्तिपूजा का निषेध कहा पर है ? [ बिना पश्चांगी मूलछत्र के अथ सत्य स्वरूप में समझ में आना दुष्कर है, मूल और पश्चांगी तो हजारों वर्षों से है । यदि समर्थ ज्ञानी पूर्व महर्षियों को भी मूर्तिपूजा मान्य थी । अर्वाचीन लोगों ने मूर्तिपूजा में पाप माना, यह सिर्फ मतिभ्रम ही है । आप सोचिए, ममवसरण में पूर्व दिशा सन्मुख जिन विराजते थे और तीन दिशा में जिनकी मूर्ति ही रहती थी । बारह वर्षों का उसको प्रणाम करती थी, वह अनुचित होता तो खुद प्रभु क ममव यह क्यों चलता ? मूर्ति तो खुद प्रभु ने अपने ममवसरण में भी बतलाई है, और उसकी विनयादि करने से कर्म निर्जरा व शुभकर्मों का बन्ध फरमाया है, सिखाया है, मध्यस्थ होकर स्वयं अवलोकन करना जरूरी है ]

प्रश्न—यदि जिन प्रतिमा जिन सारस्वी हैं तो फिर पशु पक्षी उस पर घीट क्यों कर दते हैं ? उनको अर्पण किया हुआ नैवेद्य आदि पदार्थ भूषिक, मार्जार क्यों ले जाते हैं ? मुसलमान लोगों ने उनको मंदिर मूर्तियाँ कैसे तोड़ डाली ?

उत्तर—हमारे धीतराग की यही तो धीतरागता है कि उन्हें किसी से राग द्वेष या प्रतिबन्ध का अर्थ

मात्र नदी है, चाहे उन्हें कोई पूजे या उनकी निन्दा या अपमान करे, चाहे कोई द्रव्य चढ़ाये या ले जावे, चाहे भक्ति करे या आशातना करे, वे तो राग द्वेष स परे हैं। उन्हें न किसी में विरोध है और न किसी से सौहार्द। वे समभावी हैं। देखिए, भगवान् महावीर के कानों में ग्वालने ने फील ठोकी। वैद्य न कौलें निकाली परन्तु भगवान् दोनों पर ही समभावी रहे तो यही बात उनकी मूर्तियों में होना स्वाभाविक है। [जो रागी है सो रक्षा करना चाहता है, जो द्वेषी है उसको दूरपन है और वह उसे शिक्षा करता है। चित्तमणि में राग द्वेष नहीं है, प्रसन्न या नाराज होना नहीं है तथापि उसको साधनेवाला मनोवाञ्छितप्राप्त कर सकता है। उमी तरह धीतराग या मूर्ति में राग द्वेष नहीं है, प्रसन्न और नाराज होना नहीं है, तथापि भक्त जन उसे पूजकर अपना मनवाञ्छित प्राप्त कर सकता है और द्वेषी आशातना करता हुआ भ्रम भ्रमण बढ़ाता है।]

प्रश्न—फिर क्यों कहा जाता है कि ३२ सूत्र भगवान् के परमाए हुए हैं ?

उत्तर—ऐसा किसी सूत्र में लिखा है कि ३२ सूत्र ही भगवान् के परमाए हुए हैं ? या भोलों को भ्रम में डालने का धोखा है, क्योंकि वह कहीं भी नहीं लिखा है कि जैनों में ३२ सूत्रों की ही मान्यता है। यदि ३२

सूत्रों को माना जाय तो भी उममें से नन्दी सूत्र में ७३ सूत्रादि और १४००० प्रकीर्णक मानने का उल्लेख है । यदि ७३ सूत्रादि को नहीं मानते हो तो ३२ सूत्रों को भी नहीं माना जा सकता, फिर यह क्यों कहा जाता है कि हम ३२ सूत्र मानते हैं । स्थानांग में चार 'पञ्चति' सूत्र कहे हैं, उसमें तीन को मानना और एक 'द्वीप मागर पन्नति' को नहीं मानना कहाँ का न्याय है ? ३२ सूत्रों को भी आपके न्याय से मानना अन्याय है, क्योंकि ३० सूत्रों में से ११ गणधर कृत है, पर २१ सूत्र तो स्थविरों के बनाए हुए हैं । स्थविर कृत तो आपको अमान्य है, जब श्यामाचार्य कृत प्रज्ञापना सूत्र को मानना और मद्रवाहुकृत नियुक्ति को नहीं मानना यह अन्याय नहीं तो क्या है ? यदि यह इरादा हो कि मूर्तियाँ नहीं मानने के कारण ही ३२ सूत्रों को माना गया है, तो ३२ सूत्रों के मूल पाठ में भी मूर्ति विषयक बहुत उल्लेख है । फिर अगाध ज्ञान के समुद्र और सूत्रों को छोड़कर केवल ३२ सूत्रों के मानने से क्या अर्थ हुआ ?

प्रश्न—क्या ३२ सूत्रों में मूर्ति पूजा करने का उल्लेख है ?

उत्तर—हां, सुनिए—(१) श्री आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुत स्कन्ध, पन्द्रहवें अध्यायन में मम्यक्त्व की



प्रशस्त भावना में शत्रुंजय गिरनारादि तीर्थों की यात्रा करना लिखा है (मद्रवाहु स्वामिकृत निर्युक्ति)

(२) श्री सूत्रकृतांग सूत्र दूसरा श्रुत स्मन्ध छठे अध्यायन में अमयकुमार ने आद्रेकुमार के लिए जिन प्रतिमा भेजी जिसके दर्शन से उसको जाति स्मरण ज्ञान हुआ । —(शीलां कमूरि कृतटीका)

(३) श्री स्थानांग सूत्र चतुर्थ स्थानक में नन्दीश्वर द्वीप में ५२ मंदिरों का अधिकार है ।

(४) श्री समवायांग सूत्र के सत्तरहवें समवाय में जषाचारण विद्याचारण मुनियों के यात्रा-वर्णन का उल्लेख है ।

(५) क-श्री भगवती सूत्र शतक ३ उ० १ के चमरेन्द्र के अधिकार में मूर्ति का शरणा कहा है ।

ख-श्री भगवती सूत्र के शतक १०, उद्देशा ५ में प्रभु महावीर स्वामी गौतमस्वामी को कहते हैं कि असुरेन्द्र की चमरचचा राजधानी में सुधर्मा समा में चैत्य-स्तंभ में गोलाकार डब्रों में जिनेश्वरों की बहुतसी दाड़ाएँ रही हुई हैं, जो असुरेन्द्र, चमरेन्द्र और दूमरे बहुत देवदेवियों

को चन्द्रनादि से पूजन करने योग्य हैं, नमस्कार करने योग्य हैं, पुष्पादि से पूजने योग्य हैं, वस्त्रादि से सत्कार करने योग्य है, तथा कन्याण और मंगलकारी जिन प्रतिमा के समान उपामना करने योग्य हैं । इन महामाननीय दादाओं की विद्यमानता के कारण ही ( आशातना न हो इस हेतु ) चमरेन्द्र वहा देव सम्बन्धी भोग भोगने में समर्थ नहीं है ।

ग—श्री मगवती सूत्र क शतक २० उ० ६ में मुनिराज का जिनप्रतिमा को वन्दन करने का पाठ है ।

(६) श्री ज्ञाता सूत्र अध्याय ८ में श्री अरिहतों की मक्ति करने से तीर्थकर गोत्र पन्धता है तथा अध्याय १६ में द्रौपदी महामती ने १७ भेद से पूजा की है ।

(७) श्री उपासक दशांग सूत्र में ध्यानदाधिकार में जिन मूर्ति का उल्लेख है ।

(८६) श्री अन्तगृह और अनुशरोनवाई सूत्र में द्वारिकादि नगरियों के अधिकार में श्रीपपातिक सूत्र के सदृश जैन मंदिरों का उल्लेख है ।

(१०) प्रश्न व्याकरण सूत्र तीमरे सवरद्वार में जिन प्रतिमा की वैयास्य (रक्षा) कर्म निर्जरा के हेतु करना बतलाया है ।

(११) विपाक सूत्र में सुवाहु आदि ने जिन प्रतिमा पूजी है ।

(१२) उपपातिक सूत्र में मुहल्ले २ जैन मंदिर का वर्णन है । तथा अयङ्ग श्रावक ने प्रतिमा का घंदन करने की प्रतिज्ञा ली थी ।

(१३) राजप्रश्नीय सूत्र में सूरियाम देव ने सत्रह प्रकार से पूजा की है ।

(१४) जीवामिगम सूत्र में विजयदेव ने जिन प्रतिमाएँ पूजी है । वे जिन प्रतिमाएँ जिनेश्वर के शरीर की ऊँचाई प्रमाण बतलाई हैं ।

(१५) प्रज्ञापना सूत्र में 'ठगणा सच्च' कहा है ।

(१६) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में २६६ शाश्वत पर्वतों पर ६१ मंदिर लिखे हैं तथा जम्बूदेय ने प्रतिमा पूजी । आदीश्वर प्रभु के निर्वाण के बाद उनकी चिता पर इन्द्र महाराज न रत्नों के स्थुम बनाये ।

(१७) चन्द्रप्रज्ञप्ति सूत्र में चन्द्र विमान में शाश्वत जिन प्रतिमाओं का वर्णन है ।

(१८) सूर्यप्रवृत्ति सूत्र में सूर्य विमान में जिन प्रतिमाओं का वर्णन है ।

(१९-२३) पाच निरयावल्लिका सूत्र में नगरादि अधिकार में जिन प्रतिमा ।

(२४) व्यवहार सूत्र उद्देशा पहला थालोचनाधिकार में जिनप्रतिमा ।

(२५) दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र, राजगृह नगराधिकार जिनप्रतिमा ।

(२६) निशीथ सूत्र जिन प्रतिमा के सामने प्रायश्चित्त लेना कहा ।

(२७) बृहत्कल्प सूत्र में नगरियों के अधिकार में जिन चैत्य है ।

(२८) उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १० अष्टापद के मंदिर, अध्ययन १८ यां उदायन राजा की रानी प्रभावती के गृह मंदिर का अधिकार, अध्ययन २६ में चैत्य बदन का फल यावत् मोघ बतलाया है ।

(२९) दशवैकालिक सूत्र जिन प्रतिमा के दर्शन से शय्यमव मङ्गु को प्रतिबोध हुआ ।

(३०) नदीघाट म विशाला नगरी में जिन चैत्य महाप्रभाविक कहा है ।

(३१) अनुयोगद्वार सूत्र में चार निषेध का अतिकार में स्थापना निषेध में अरिहतों की मूर्ति अरिहतों की स्थापना कही है ।

(३२) आवश्यक सूत्र में अरिहत चेइश्वाण म उदण व. पूश्चण व सकार व. सम्माण व. और लोगस्म में कितिय—उदिय—महिया जिममें उदिय तो भाव पूजा मान लें किन्तु पूश्चण, सकार, सम्माण, महिया का अर्थ क्या होगा ? द्रव्यपूजन ही है, कौन निषेध कर सकता है ?

प्रश्न — जिन प्रतिमा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, नहीं है । प्रतिमा में कोई गुणस्थान नहीं है । इमलिय पांचवें गुणस्थान वाला श्रावक और छठे गुणस्थान वाला साधु उसे कैसे नमस्कार कर सकता है ?

उत्तर—जैसे प्रतिमा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और गुण स्थान नहीं हैं वैसे ही प्रभु के शरीर में या साधु के शरीर में भी गुणस्थान नहीं हैं । कारण कि गुणस्थान तो आत्म धर्म है । फिर प्रभु या साधु के शरीर को कैसे नमन किया जा

सके ? जैसे आत्मासे अधिष्ठित शरीर व्यवहारसे भक्ति का पात्र है उसी प्रकार आरोपित आत्म भाव वाली प्रभु मूर्ति भी भक्तिपात्र है । श्री जिनप्रतिमा तिनका स्थापना निश्चेष है । स्थापना में साक्षात् गुणस्थान की जरूरत नहीं । परन्तु वन्दनीय की स्थापना में गुणस्थान का आरोप करके उसे वन्दन करने में कोई बाधा नहीं है । श्री जिनेश्वर भगवान क चारों निश्चेष वन्दनीय हैं । इसी लिए लोगस्म (नाम स्तर) आदि सूत्रों से पाँचवा छद्मा गुणस्थान वाला साधु व थावक रीज प्रभु वन्दन करते हैं । यदि स्थापना में या नाम में कोई भी गुणस्थान नहा तो फिर लोगस्म भी माना नहीं जा सक्ता । साधु के मृतक शरीर में कोई भी गुणस्थान नहा है फिर उसे वन्दन कैसे किया करते हैं ? गुरु का पाट, पुस्तक, पादुका वगैरह में कौनसा गुणस्थान है ? फिर भी उनकी आशातना नहीं करते, बल्कि भक्ति दिखलाते हैं । तो फिर प्रभु की प्रतिमा की स्थापना में ही शका क्यों ? यह सब मिथ्यान्वमोह और अज्ञानताका उदय ही समझना चाहिये । साधु की वन्दन करते समय साधु में छद्मा गुणस्थान है इसका निर्णय कौनसे ज्ञान में किया जाता है ? मात्र व्यवहार से साधु को साधु मान कर वन्दन

करते हैं। वैसे ही आकार प्रभु का है और प्रतिमा में विधि पूर्वक भगवद्भाष्य आरोपित है। अतः उसे वन्दन नहीं करने में मित्यात्थ हठ के सिवाय दूसरा कोई कारण नहीं है ?

प्रश्न—जब तक तीर्थङ्कर भगवान् दीजा नहीं लेते वे चौथे गुणस्थान में होते हैं अतः पाँचव गुणस्थान में रहे हुये थावक उनको नमस्कार कैसे कर सकते हैं ?

उत्तर—गृहस्थावस्था में रहने वाले तीर्थङ्करों को गुणस्थान की दृष्टि से नहीं परन्तु द्रव्य निक्षेप की दृष्टि से वन्दन किया जाता है। युवराज राजा नहीं है, परन्तु मन्त्रिण्य में राजा बनेगा, ऐसा मानकर लोग उमका राजा की तरह आदर सन्मान करते हैं। उसी प्रकार भगवान् भी उसी देहमें तीर्थङ्कर होने वाले हैं। इसलिए द्रव्य निक्षेप से वन्दन करने योग्य हैं। दीजा नहीं लेने पर भी भाषी का वर्तमान में उपचार कर वन्दन हो सकता है। अन्यथा मरीचि के भवमें भरतजी ने मरीचिकी अन्तिम तीर्थङ्कर मानकर क्यों वन्दना की ? जैसे भूत-कालका उपचार कर मृतकों को साधु मानकर पूजते हैं वैसे ही भविष्यमें होने वाले गुणों का वर्तमान में उपचार कर पूजा करने में क्या दोष है ? अगर गुण स्थान ही

वन्दन योग्य होते तो साधु को वन्दन कैसे किया जाय क्योंकि गुण स्थान तो आत्मधर्म है इसलिये साधु में गुणस्थान है या नहीं, इसका निर्णय छद्मस्थ नहीं कर सकता। उसका निर्णय तो ज्ञानी ही कर सकता है। तो फिर व्यवहार से ही साधु को गुणस्थान वाला मान कर वन्दन किया जाता है। व्यवहार से ही गृही जिनमें जिनपणाका आरोप करने बाद वन्दन क्या नहीं किया जाता। गुरु चरण, गुरु नाम, गुरु आसन वर्गैह म गुण स्थान नहीं होते हुवे उनकी पूजा हो सकती है तो फिर जिन नाम और जिन स्थापना में ही शका क्यों ?

प्रश्न—चैत्य शब्द का अर्थ वृक्ष, वन तथा ज्ञान और साधु है परन्तु मन्दिर और मूर्ति नहीं ?

उत्तर—चैत्य शब्दका अर्थ ज्ञान या साधु कहां किस जगह लिखा है। “चि” शब्दको लेकर जैसा चाहे वैसा शब्द निकाल कर साधु या ज्ञानको लगाना होय तो मन्दिर या मूर्ति को क्यों नहीं लगाया जाय। वस्तुतः शब्दों का अर्थ दो तरह से होता है योग और रुद्रि, चैत्य शब्दका योगिक अर्थ समाधिस्थान होता है और रुद्र अर्थ मूर्ति अथवा मन्दिर है। “चैत्य जिनीरु-स्तद्विच” यह कोपकारों का वचन है। योगिक अर्थ



रुद्र अर्थ अधिक बलवान् होता है। मगधती एव—  
 की टीका तथा अभिधा शिवालयी दोषमें योग्य का  
 अर्थ विनमयन और अिन रिश रिषा हुआ है। वृष,  
 पन, शान, साधु, अर्थ तो वन्यित है। स्वच्छन्द कर्तना  
 से निकाले हुए अर्थ है। इन अर्थों का कोई प्रमाण उप  
 लब्ध नहीं है। और इन अर्थों का मानन म अनक विरोध  
 उपस्थित होत है। जैसे मम्पकवका आगधक दूमरों  
 क प्रदण रिष अरिहताथ पेटपरो वन्दना नहीं करता।

“अन्नतृतीयपरिग्रहियाणि वा चेद्याई” उपधाई  
 एव के र्ग पाठना अर्थ जानादि केम संगत हो सकता  
 है ? अरिहतरु शान का अन्य तीर्थियों द्वारा केम प्रदण  
 किया जा सकता है ? अन्य तीर्थियों द्वारा प्रदण की हुई  
 अरिहन्तकी प्रतिमाओंको वन्दन करना (अवड का)  
 नहीं करपता यह बिलकूल मीघा और मगत अर्थ है।  
 ‘चेद्याई’ बहुवचन होने के कारण प्रतिमाएँ अथ न कर  
 के शान अर्थ करता व्याकरण के नियमोंकी नितान्त  
 अवहेलना है तथा यदि चेत्य का अर्थ साधु करें तो श्री  
 मगधती एवके तीसर शतक दूमर उद्देश पत्र १७१ में  
 कहा गया है कि “एऽपगत्य अरिहत वा अरिहत चेद्

याणि वा अग्निगारे वा भावियन्त्यो निस्साए उद्ध उप्प यन्ति, जाय सोहम्मो कप्पो”

“अरिहन्त, अरिहन्त क चैत्य और सुमाधु की शरण बिना असुर कुमार दय मौघर्म देवलोक तक ऊंचा नहीं जा सकता ।”

यदि थोड़ा सा भी विचार करें तो बात स्पष्ट हो जाती है कि मुनि के लिए अनमार शब्द अलग है अतः चैत्य का अर्थ माधु नहीं हो सकता परन्तु अरिहत चैद्य याणि का अर्थ अरिहतकी प्रतिमा बिलकुल ठीक अर्थ बैठता है ।

प्र०—माघात् तीर्थङ्कर भगवान् की पूजा भक्ति करनी चाहिए या प्रभु की मूर्ति की ।

उत्तर—माघात् तीर्थङ्कर की सेवा तो उनके स्वयं होते हुए भी नहीं होगी । क्योंकि वह तो अरूपी आत्मा है । उसका दर्शन पूजन कैसे होगा ? जो साक्षात् होता है वह तो उस काल में भी उनका शरीर ही है । शरीर कोई भगवान् नहीं है, फिर भी शरीर को पूजा और माना जाता है ।

शरीर के अभाव में शरीर का आकार (मूर्ति) पूजन मानने में क्या बाधा है । तथा मिट्टी भगवान् क्या साक्षात् हैं । क्या साक्षात् हो सकने हैं ? यदि नहीं तो उनका दर्शन पूजन स्तुति कैसे करोगे ? क्या बिना दत्ते स्तुति करनी संगत है, जो यस्तु दिखाई नहीं पड़ती और कभी देखी भी नहीं है उसकी स्तुति यदि हृदय में ध्यान द्वारा हो सकती है तो हम आगे बढ़कर हृदय में विराजमान कर ध्यान करते हैं; और मूर्ति में विराजमान कर दर्शन पूजन आदि करते हैं ।

क्या हृदय में भगवान् को विराजमान किया जाता है ? यदि हाँ, तो, प्रश्न है कि—क्या हृदय चैतन्य रूप है या जड़ से बना जड़ है, यदि जड़ होते हुए भी हृदय में भगवान् रह सकते हैं, तो मूर्ति ने क्या दोष किया है कि उसमें विराजमान न हो सकें ।

अन्य उदाहरण लीजिये । ज्योतिष के अभ्यासी भविष्य देखते हैं तो सूर्यादि ग्रहों को जो आकाश में गति कर रहे हैं, उन को कुण्डली में उतारते हैं । कुण्डली क्या है ? आकाश का नक्शा । उसमें ग्रह कोई चलते नहीं परन्तु लिखे जाते हैं । कुण्डली में उनको लाने की यह

त तो प्रसिद्ध ही है । उसी प्रकार निरवतन स्वरूप भगवान् को हम मन्दिरकी में ध्यान करने के लिए विराजमान करते हैं ।

भगवान् या मूर्ति का बहुमान व्यवहार से है ।

वास्तव में बहुमान तो भगवान् के गुणों का करना है । येनको हमें अपने आत्मा में प्रगट करना है, गुण का बहुमान गुणी के बहुमान से होता है अतः भगवान् पूज्य हैं ।

निरालम्बन ध्यान की शक्ति वर्तमान काल के जीवों में भरत क्षेत्र में नहीं है ।

मातृगुणस्थान से कम गुणस्थान वाले जीव आलम्बन के बिना ध्यान कर ही नहीं सकते अतः उनमें लिये ज्ञानियों ने आलम्बन ध्यान करवाया है ।

प्र०—भगवान् अपभ्रष्ट आदि की काया तो बढ़ी थी । फिर प्रतिमा की इतनी छोटी कैसे ?

उ०—मगध नगर में ५ मील दूर एक बड़ा स्टीमर हो और सूक्ष्म यन्त्र से उसे देखें, अथवा कोई कैमरे में उसकी फोटो लें, तो उस फोटो में वह सारा समाविष्ट हो जाता है, उसी प्रकार बढ़ी

स्वरूप को याद करने के लिये यहाँ प्रतिमाजी के छोटे आकार में उन प्रभुजी का मधेपीकरण समझा जाता है। भगवान् की काया ५०० धनुष्य की है परन्तु उनका नाम केवल पाच अक्षर का, एक इञ्च छोटा कैसा माना जाय। यदि इन पाच अक्षर मात्र में 'ऋषभदेव' ऐसा ज्ञान हो सकता है और मात्र बढ़ता है तो मूर्ति छोटी होने में उससे क्या दोष आता है ?

क्या सब प्रकार के नक्षत्र बड़े २ त्यों प्रदेशों का बोध नहीं कराते ?

मूर्ति तो पूजक के लिये है, जैसे पूजक उसकी पूजा कर सकै वैसे ही नाप होना चाहिये।

प्रश्न—निराकार भगवान् की उपासना ध्यान में हो सकती है तो मूर्तिपूजा क्यों मानी जाती है ?

उत्तर—मनुष्य का मन निराकार का ध्यान नहीं कर सकता। जो वस्तु इन्द्रियों में ग्रहण की जाती है उसका विचार मन कर सकता है। उसके मियाय अन्य वस्तुओं की मन में कल्पना ही नहीं आ सकती। किम्वाने पूनचद्र नामक मनुष्य का मिर्क नाम सुना है, उसकी आकृति अभी नहा देखी तो क्या नाम मात्र से वह

पूरुषचंद्र का ध्यान कर सकता है ? नहीं । इसी प्रकार निम्ने भगवान् को साक्षात् या मूर्त्ति द्वारा नहीं देखा, यह उनका ध्यान नहीं कर सकता । जब-जब ध्यान करना होगा, तब तब जोई वस्तु दृष्टि के सामने रखनी ही पड़ेगी । भगवान् को ज्योतिस्वरूप मानकर उनका ध्यान करने वाला, उस ज्योति को शुक्ल या ग्याम आदि किसी वर्ण वाली मान कर ही उनका ध्यान कर सकता है । सिद्ध भगवन्तों में ऐसा कोई भी पौद्गलिक रूप नहीं है । उसे केवली क मित्राय दूमरा कोई नहीं जान सकता । इस प्रकार अतिशय नानी क मित्राय कोई निराकार सिद्ध का ध्यान नहीं कर सकता ।

कहा जा सकता है कि हम मन में मानसिक मूर्त्ति की कल्पना करके सिद्ध भगवान् का ध्यान करेंगे । उनसे पूछा जा सकता है कि तुम्हारी मानसिक मूर्त्ति का रंग कैसा है—लाल, काला, या भेद ? अगर वह कहे कि उसका कोई रंग नहीं है तो जिनका कोई रूप रंग नहीं उसका ध्यान करना तुम्हारी शक्ति से बाहर है ।

श्री तीर्थंकर देव समयसरण में पूर्वाभिमुख बैठते हैं । जेप तीन तरफ दाता भगवान् की मूर्त्तियाँ स्थापित करते हैं । ऐसी श्री समयसरणप्रकरण, समयवायागध्वज

टीका और तत्त्वार्थसूत्र टीका आदि प्राचीन ग्रंथ साक्षात् देते हैं ।

कई लोग कहते हैं कि भगवान् के अतिशय के कारण चारों तरफ चार मुख दीखते हैं, परन्तु यह बात असत्य है, क्योंकि किसी भी शास्त्र में ऐसा उल्लेख नहीं है । अतएव समवसरण की रचना से भी चित्त की एकाग्रता के लिए मूर्ति की आवश्यकता सिद्ध होती है । भगवान् की भव्य मूर्ति के दर्शन से उनके गुण स्मरण होने पर श्रद्धावान् मनुष्य को भगवान् के मिलने पर कितना आनन्द होता है । वह मूर्ति को साक्षात् भगवान् समझकर भाव-युक्त भक्ति करता है । उस समय भक्ति करने वाले के मन के अष्यप्रसाय कितने निर्मल होते हैं और वह कैसे शुभ कर्म उपार्जन करता है, इसका सन्धा और पूरा रयाल सगन के सिवाय दूसरे को नहीं आ सकता ।

जो लोग भगवान् का मानमिक ध्यान करने की डांग मारते हैं, वे क्यों सैकड़ों-हजारों मील वाहनों में बैठ कर और पचेन्द्रिय जीवों की भी हिंसा करके अपने गुरु को वन्दन करन जाते हैं ? गुरु का मानमिक ध्यान तो घर बैठे भी हो सकता है । पर दृनिधादारी के ऋगड़ों में कसे लोगों को आलम्बन के बिना शुभ ध्यान की

शक्ति नहीं हो सकती । अस्थिर मन और चंचल इन्द्रियों को काय में रचना पच्चों का खेल नहीं है । गितार या तम्बूर का मधुर स्वर कान में पड़ा कि चंचल मन ताल उधर दौड़ जाता है और ध्यान की बात दया में उड़ जाती है । ऐसे चंचल मन वाले मनुष्यों के लिए प्रभुपूजा में लीन होना ही परम ध्यान है । अतएव अनङ्ग उपाधियों वाले गृहस्थपन में तिन पूजा का अनादर करना लाभ के बदले हानि उठाने के बराबर है । गृहस्थ की विद्वन्मना वालों को मूर्ति के आलम्बन में बिना मानसिक ध्यान होना असम्भव है । श्री जिनपूजा में आदर में और मूर्ति द्वारा जिनशर देव के गुण ग्राम वर्गरह करों से चंचल मन स्थिर होता है और स्थिर हुए मन में सतार की अमारता आदि का मरलता में मान हो सकता है ।

जैन धर्म के मर्म का जानने वाले पूर्वाचार्यों ने प्रत्येक जीव को अपने अपने गुणस्थान के अनुसार क्रिया बढ़ीमार करने के लिए फरमाया है । वर्तमान में कोई भी जीव सातवें गुणस्थान से ऊपर नहीं चढ़ सकता । सातवें गुणस्थान का समय अत्यल्प होता है, अतएव मुख्यरूप से छठे गुणस्थान में ही जीवों की स्थिति है । यह



होने में इस गुणस्थानक तब तक जीव निरालम्ब्यन ध्यान करन में असमर्थ हैं। किन्तु जो छोटे गुणस्थानक तब भी नडा पहुँचे और ममार की झुझटों में रचेरचे हैं; वे निरालम्ब्यन ध्यान की बात तक तो यह आडम्बर ही समझना चाहिए।

ध्यानक चैथे पाँचवें गुणस्थानक में होता है, अतएव वह द्रव्य भाव दोनों प्रकार की पूजा का अधिकारी है, जब कि साधु छोटे गुणस्थानक में होने में सिर्फ भावपूजा का अधिकारी है। जैसे व्यावहारिक शिक्षण में प्रथम कक्षा, फिर बारह सदी और फिर शास्त्र आदि, इस प्रकार अनुक्रम से अभ्यास कराया जाता है, उसी प्रकार अनुक्रम में ऊँच गुणस्थानक में पहुँचने पर क्रियाओं में भी फेरफार हो जाता है। मीढ़िया छोड़ कर जो एक दम ऊपर कूटने का प्रयास करता है, वह ऊपर चढ़ना तो दूर रहा, नीचे गिरता है और अपने हाथ पैर तोड़ लेता है।

प्रश्न—जड़ को चतन की उपमा कैम दी जा सकती है ?

उत्तर—वस्तु में अनन्त धर्म होते हैं। एक एक धर्म की अपेक्षा से एक ही वस्तु को अनन्त उपमाएँ दी जा

सकती है। बालक एक लकड़ी पर गदागी करता है तब लकड़ी जड़ होने पर भी उस चान चाद की उपमा दी जाती है। मध्यज्ञान और धम आत्मिक वस्तुएँ हैं, फिर भी उन्हें ब्रह्म कल्पवृक्ष और चिन्तामणि की उपमा दी जाती है। इसी प्रकार परमात्मा की मूर्ति में परमात्मा का ज्ञान होता है, अतएव उस मूर्ति को भी परमात्मा कहा जा सकता है। पाच की रूपरा की हुण्डी या नोट को भी लोग पाच की रूपरा ही कहते हैं। वास्तविक रूप से लखा जाय तो रूपरा चांदी का टुकड़ा है और नोट हुण्डी कागज-स्याही रूप है। किन्तु दोनों में एक ही प्रयोग बन सिद्ध होने के कारण दोनों रूपरा कहलाते हैं। इसी प्रकार परमात्मा की मूर्ति परमात्मा का वाच करता है, अतएव उसे परमात्मा की उपमा दी जा सकती है।

प्रश्न—क्या मूर्ति हमें ही मानते रहे ?

उत्तर—हाँ, जब तक कि आत्मा प्रमादी और सुललड़ है, तब तक उसे प्रभुगुणों का स्मरण आदि करने के लिए प्रभुमूर्ति माननी ही चाहिए। ज्ञानाम्याम में चूक होने के भय में किन्हीं अचेतन पुस्तकों का आधार लेना पड़ता है, प्रभु का कर्तव्य ज्ञान के भय से किन्हीं माला चारित्र-

परिणाम में पतित हो जाने के भय से जिन्हें रजोहरण मुखरस्त्रिका का आधार लेना पड़ता है, सर्दी, गर्मी और वर्षा के भय से जिन्हें अचेतन वस्त्र और मकान आदि का आश्रय लेना पड़ना है तथा हिंसक पशु पक्षी या डाकू आदि के भय से जिन्हें शस्त्र आदि का शरण खोजना पड़ता है, उन्हें तब तक प्रभु के गुणों की स्मृति के लिए अचेतन मूर्ति का आलम्बन लिये बिना छुटकारा ही नहीं है। जो लोग दूरे सब अचेतन आलम्बन स्वीकार करते हैं, किन्तु अचेतन का नाम लेकर परमात्मा की मूर्ति का निषेध करते हैं, समझना चाहिए कि वे परमात्मध्यान की कीमत मामारिक पदार्थों जितनी भी नहीं समझते। ज्ञानाभ्यास में पुस्तक आदि के अलम्बन बिना चूक जाने वाले आत्मा, मूर्ति आदि के अलम्बन बिना परमात्मध्यान से नहीं चूकेंगे, ऐसा कैसे माना जा सकता है? परमात्मध्यान में चुकाने वाली विरोधी वस्तुओं के संग से जो मुक्त नहीं हैं, वे मूर्ति के आलम्बन बिना परमात्मध्यान में चूकें बिना नहीं रह सकते। परन्तु परमात्मध्यान से चूक जाना कितनी बड़ी हानि है, यह सर्व साधारण जन नहीं जानते। शास्त्रों का कथन है कि दूरे मामारिक कार्यों से चूक जाने में उतनी हानि नहीं, जितनी परमात्मध्यान से चूक जाने में होती है।

आत्मा रूपी तिचोरी में पकत्र हुए शुभ ध्यान रूपी  
 मून्य धन को, प्रतिमा का आलम्बन रूपी ताला लगा  
 र सुरक्षित न रनाया जाय तो प्रमाद रूपी चोर उमे  
 य क्रिय गिना नहीं रहते । शुभ ध्यान रूपी बन नष्ट  
 था रि आत्मा अनन्त ससार सागर में डूब जाता है ।  
 तएत्र जिन प्रतिमा का आलम्बन प्रमादी जीओं क लिए  
 गनी म पहले पाल बाधने के समान अन्यन्त हित फारक  
 । इमलिए संसार लुब्ध प्राणियों क लिए प्रतिमा आदि  
 म आलम्बन छोडना हितकर नहीं है । ऊचा दर्जा प्राप्त  
 न पर, माँप जैसे कूँचली त्याग देता है उमी प्रकार  
 आलम्बन अपने आप ही छूट जाते हैं ।

प्रश्न—चड प्रतिमा मोक्षादयक कैसे हो सकती है ?

उत्तर—शास्त्र, स्याही और कागज रूप होने मे जड  
 हैं, फिर भी यह मोक्ष देा वाला हैं, ऐसा समी मानते हैं ।  
 जो फिर परमेश्वर की मूर्ति भी, उसकी आराधना करने  
 वाले को मोक्ष का सुख क्यों नहा देगी ? शास्त्र, भगवान्  
 के वचनों की प्रतिमा है और मूर्ति भगवान् क आकार  
 की प्रतिमा है । जैसे वचनों की प्रतिमा मे ज्ञान होता  
 है, उसी प्रकार आकार की प्रतिमा से भी मव्य जीवों को  
 ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान होता है ।

प्रश्न—प्रतिमा अजीव है, उमकी पूजा कैसे की जाय ?

उत्तर—जो द्रव्य पूजनीय है, वह सजीव हो अथवा अजीव हो, पूजनीय ही है। ऋक्षिणावर्ष शरय, कामकुम्भ, चिन्तामणि रत्न, चित्रावेल आदि पदार्थ बढ हैं, फिर भी लोक में पूज्य ही हैं और जो उनकी पूजा करते हैं, उनका मनोवाञ्छित कार्य सिद्ध होता ही है। जैसे यह अजीव वस्तुएँ अपने स्वभाव से पूजा करने वालों का हित करती हैं, उसी प्रकार श्री विनप्रतिमा भी स्वभाव से ही पूजने वाले को शुभ फल देती है।

प्र०—छोटी-मो मूर्ति के आगे नैवेद्य के ढेर के ढेर लगा देना क्या अनुचित नहीं है ? क्या मूर्ति को खान की जरूरत पड़ती है ?

उ०—यह प्रश्न सर्वथा अनुचित है। नैवेद्य मूर्ति के खाने के लिए नहा रक्खा जाता। पूजक पुरुष अपनी भक्ति के लिए उसे रखते हैं। पूज्य को उससे कोई प्रयोजन नहा। मूर्ति खाती नहा है, इमी कारण उसके मन्मुख यह भावना भाई जाती है कि—हे प्रभो ! आप निर्बन्दी तथा सदा अनाहारी हो। मैं आपक समक्ष यह आहार रखता हूँ मो इम मास से कि—मैं इस आहार

और नैवेद्य का सर्वथा त्याग करके सदा के लिए आपके समान अनाहारी (मुक्त) बन जाऊँ। और हे देवाधिदेव ! यह आहार अनेक पापारम्भ करके तैयार किया है, इसे मैं खाऊँगा तो उसके रसास्वादन में मुझमें राग-द्वेष की परिणति जागृत होगी। जितना आहार मैं आपको चढ़ाऊँगा, उतनी आहार सम्यन्वी राग द्वेष की परिणति कम होगी, भक्ति का लाभ मिलेगा और परम्परा से मुक्ति-फल का स्वाद चखने का सौभाग्य भी प्राप्त होगा।

प्रश्न—श्रावक के चारह व्रतों में से त्रिनमूर्ति की द्रव्यपूजा किम व्रत में है ?

उत्तर—जिसके विना ममस्त व्रत निष्फल है, ऐसा सर्व शुभ क्रियाओं का मूल सम्यक्त्व है। उमको करणी में श्रावक को गृहस्थावास में रहते हुए श्री त्रिनमूर्ति की द्रव्य भाव पूजा करना उचित है। देव श्री अरिहन्त देव हैं, गुरु जैनधर्म के शुद्ध गुरु और धर्म केरली प्रणीत मत्प धर्म हैं। यह तीनों वस्तुएँ चारों निक्षेपा से सभी के लिए वन्दनीय और पूजनीय हैं। जो ऐसा मानता है वह सम्यग्दृष्टि और न माने वह मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार श्री त्रिनपूजा सम्यक्त्व की करणी है और सम्यक्त्व

ममस्त प्रती का मूल है । सम्भवत्व के अभाव में तमाम क्रियाएँ निष्फल हैं ।

प्रश्न—तपस्या करने में तो अनेक लब्धियाँ उत्पन्न होती हैं, पर श्री जिनप्रतिमा को पूजन में क्रिमी को लब्धि या ज्ञान का उत्पन्न होना सुना है ?

उत्तर—श्री राघवमेणी, श्री मगवतीसूत्र, श्री जीवामि गम, श्री ज्ञातासूत्र, श्री उवगई सूत्र, श्री आवश्यक सूत्रादि बहुत से सूत्रों में मूर्तिपूजा कल्याणकारी, मंगलकारी यावत् मोक्ष देने वाली प्रतीति गई है । सर्वोत्कृष्ट पुण्य तीर्थङ्कर गौतम भी श्री जिनपूजा से बघता है । अन्य देवा की आराधना से भी बहुतों को वन, वान्य, पुत्र आदि लब्धियाँ प्राप्त करने के दृष्टान्त विद्यमान हैं । तो श्री शीतराज की मूर्ति के सेवन से मनोवाञ्छित लब्धि प्राप्त हो तो इमम आश्चर्य ही क्या है ? इस सम्बन्ध में नीचे लिखे दृष्टान्त हैं —

(१) अनाय देश के निरामी श्री आर्द्रकुमार जिन प्रतिमा के दर्शन में जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त कर वैराग्य दशा में लीन हुए । इमका वर्णन चारह सौ वर्ष पूर्व लिखे हुए श्री सुयगढागसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छठे

अण्यदन में टीका में है। कोई कहते हैं—आर्द्रकुमार ने  
 वृषार्त्ता दम्भ कर प्रतिबोध पाया, पर यह बात गप्प है।  
 क्योंकि सूत्र में तो 'प्रथम चित्तप्रतिमा' ऐसा स्पष्ट पाठ  
 है। प्रथम तीर्थंकर श्री षष्ठमदेव स्वामी की प्रतिमा देख  
 कर प्रतिबोध पाया है।

(२) श्री महावीर स्वामी व चर्चये पट्टधर तथा  
 श्री दणवैकालिक सूत्र के रत्ता श्री शक्यभय सार,  
 श्री शान्तिनाथजी की प्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोध को  
 प्राप्त हुए। ऐसा श्री रूपसूत्र की स्वयिरायली की टीका  
 में कहा है।

(३) श्री द्रोपमागर पञ्चत्ति तथा श्री हरिमद्रसुरि कृत  
 आवश्यक् की उही टीका में लेख है कि—श्री जिनप्रतिमा  
 के आकार की मछलिया मसुद्र में होती हैं। उन्हें देख  
 कर अनक भय जीव मछलियों को जातिस्मरण ज्ञान  
 प्राप्त होता है और वे गारह व्रत धारण करके सम्भवत्व-  
 मन्त्रित आठों देवलोक में जाती हैं। इस प्रकार तिर्यच  
 जानि जो भी, जिनप्रतिमा का आकार मात्र देखने से  
 अलभ्य लाभ मिलता है, तो मनुष्य को वह लाभ मिलने  
 में शरा ही क्या है ?



(४) श्री आतायत्र म तीर्थङ्कर गोत्र साधने के स्थानक कहे हैं । उनके अनुमार रावण राजा ने अरिहन्त पद की आराधना श्री अष्टापद पर इन्द्र देव की मूर्ति द्वारा करके तीर्थङ्कर गोत्र रामायण में उदा है, जो रामायण श्री मत्तरह सौ वर्ष पहल्ल हुए श्री चरित के आधार पर बनाई है और स्वीकार करते हैं ।

(५) उमी ग्रन्थ में लिग्ग श्री शान्तिनाथ प्रभु की मूर्ति साधी थीर बड उमे सिद्ध हुई

(६) श्री पद्मचरित में श्री रामचन्द्रजी न दरिया मामने तीन उपनाम किये नाथ स्वामी की मूर्ति दरिया उत्तर गये ।

(७) जरासंध का प्रयोग करके । उस समय थी

महाराज कृष्ण ने तीन उपनाम किये । धरणेन्द्र ने आरु शी पार्श्वनाथ भगवान् की मूर्ति प्रदान की, त्रिमक स्नानजल ने 'जरा' भाग गई और सब मूर्ति सचेत हो गये । यह मूर्ति श्री शखेपर पार्श्वनाथ के नाम से अब भी गुजरात में विद्यमान है । ( यह कथन श्री हरिवंशचरित में है )

(८) नागार्जुन योगी को कहा भी स्वर्णसिद्धि न हुई । अन्त में श्री पादलिप्ताचार्य के कथन में श्री पार्श्वनाथ स्वामी की प्रतिमा के सामने श्रद्धार्थक एकाग्रता करते ही सिद्धि प्राप्त हो गई । यह योगी परम सम्पत्क-धारी श्रावक बन गया और उसने गुरु पादलिप्ताचार्य का नाम कायम रखने के लिए श्री शत्रुंजय की तलहटी में पालीताना नगर बसाया । एसा श्री पादलिप्तचरित्र में वर्णन है ।

(९) श्री पाल राजा तथा मातृ मां कोटिया का अठारह प्रकार का कोढ़ उर्जन नगर में श्री कमरिया नाथ जी की मूर्ति के सामने श्री मिद्वचर यन्त्र के स्नान जल से दूर हुआ । उनकी काया कचन ममान हो गई । वह मूर्ति आज मेगड़ में शुनेव ग्राम में विद्यमान है । ( देखो श्रीपालचरित्र )

(४) श्री जाताख्य में तीर्थङ्कर गोत्र वाधने के बीस स्थानक कहे हैं । उमक अनुमार रावण राजा ने प्रथम अरिहन्त पद की आराधना श्री अष्टापद पर स्थित तीर्थङ्कर देव की मूर्ति द्वारा करके तीर्थंकर गोत्र वाधा । ऐमा रामायण में कहा है, जो रामायण श्री हेमचन्द्राचार्य ने मत्तरह सौ वर्ष पहले हुए श्री जिनमेनाचार्य कृत पद्मचरित के आधार पर बनाई है और जिसे प्रायः सभी जैन स्वीकार करते हैं ।

(५) उसी ग्रन्थ में लिखा है कि—रावण ने श्री शान्तिनाथ प्रभु की मूर्ति क सामने बहुरुपिणी विद्या साधी और वह उसे सिद्ध हुई ।

(६) श्री पद्मचरित में कहा है—लङ्का जाते समय श्री रामचन्द्रजी न दरिया उतरने के लिए जिनमूर्ति के सामने तीन उपयाम किये । धरणेन्द्र ने आकर श्री पार्श्वनाथ स्वामी की मूर्ति दी, जिसके प्रभाव से वे सुखपूर्वक दरिया उतर गये ।

(७) जरार्संध राना ने कृष्ण महाराज की फौज पर 'जरा' का प्रयोग करके समस्त सैनिकों को बेमान कर दिया । उम समय श्री नेमिनाथ स्वामी के आदेश से

महाराज कृष्ण ने तीन उपशाम किये । घण्टेन्द्र ने आकर श्री पार्ष्वनाथ भगवान् की मूर्ति प्रणाम की, त्रिमक स्नानजल में 'जरा' भाग गई और मंत्र मैत्रिक मंत्र हो गया । यह मूर्ति श्री शम्भेरर पार्ष्वनाथ के नाम से मंत्र भी गुजरात में विद्यमान है । ( यह कथन श्री हरिवंशचरित में है )

(८) नागार्जुन योगी को कहीं भी स्वर्णसिद्धि न हुई । अन्त में श्री पादलिप्ताचार्य के कथन में श्री पार्ष्वनाथ स्वामी की प्रतिमा के नामने अर्द्धापूर्वरु एकाग्रता करते ही सिद्धि प्राप्त हो गई । वह योगी परम मध्यकत्व-धारी श्रावक बन गया और उसने गुरु पादलिप्ताचार्य का नाम शायम रखन के लिए श्री शत्रुघ्न की तलहट्टी में पालीताना नगर बसाया । ऐसा श्री पादलिप्तचरित्र में वर्णन है ।

(९) श्री पाल राजा तथा सात सौ कोटियों का अठारह प्रकार का कोढ़ उज्जैन नगर में श्री केसरिया नाथ जी की मूर्ति के नामने श्री सिद्धचक्र यन्त्र के स्नान जल से दूर हुआ । उनकी काया कचन समान हो गई । वह मूर्ति आज मेवाड़ में घुनेव ग्राम में विद्यमान है । ( देखो श्रीपालचरित )

(१०) श्री अभयदेव मुरि का गलित कोट श्री स्तमन पार्श्वनाथ जी की मूर्ति के स्नानचल में दूर हुआ । तत्पश्चात् उन्होंने नौ अङ्गुष्ठों की टीकाएँ रचीं ।

(११) श्री गौतम स्वामी की शरणागति करने के लिए भगवान् ने श्री मुण्ड में फर्माया है कि—जो पुरुष आत्मलब्धि से श्री अष्टापद तीर्थ पर चढ़ कर भरत राजा द्वारा निर्मापित जिन प्रतिमाओं का भावपूर्वक दर्शन करता है, वह उमी भय में मोक्ष जाता है । इस बात का निश्चय करने के लिए श्री गौतम स्वामी अष्टापद पर्वत पर चढ़े और यात्रा करके उमी भय में मोक्ष पधार । ऐसा श्री आवश्यकनियुक्ति कहा है ।

(१२) श्री भगवती वृत्त के मूल पाठ में कहा है—  
मन्त्रे भाव से श्री जिनमूर्ति का शरण लेन से कदापि हानि नहीं होती ।

(१३) चौदह पूर्वधारी श्री मद्रवाहु स्वामी आर-  
ग्यनियुक्ति में फर्माते हैं—

अरुसिणपत्रगाण, विरयाविरयाण एतं सलु जुत्तो ।  
संसारपपणुराणे, दव्यपत्यए क्वविडुन्तो ॥

मावार्थ—देशविरत श्रावक को पुष्प आदि से द्रव्य-पूजा अशुभ्य कानी चाहिए । उह द्रव्यपूजा रूप के दृष्टान्त से समार को प्रतनु पतला करने वाली है ।

(१४) टीकाकर भगवान् श्री हरिमद्र मुरि जी ने श्री आवश्यकवृत्ति में बतलाया है कि पूजा पुण्य का अनुबन्ध करने वाली और बहूनिर्जरा रूप फल देने वाली है ।

(१५) श्री अमयदेव मुरि जी ने पूजा का फल बतलाते हुए कहा है—यद्यपि जिनपूजा में स्वरूप हिंसा दिखाई देती है, तथापि वह पूजा करने में गृहस्थ ( रूप व दृष्टान्त में ) शुद्ध होता है तथा परिणामों की निर्मलता होने से अनुक्रम में मुक्तिकल भा प्राप्त करता है ।

(१६) गुणवर्मा राना ऊ मत्तगृह पुरों में म प्रत्येक पुर ने एक एक प्रकार की पूजा की और उ उसी भय में मोक्ष गये । ऐसा मत्तरह प्रकार की पूजा व चरित्र में कहा है । मत्तरह प्रकार की पूजा का मविस्तार उर्ध्वन श्री रायपसेखीसूत्र में है ।

(१७) श्री जिनप्रतिमा की पूजा भक्ति करने से श्री शान्तिनाथ स्वामी के जीव ने तीर्थङ्कर गोत्र का वृध किया था ऐसा प्रथमानुयोग सूत्र का कथन है ।

(१८) श्री भगवती सूत्र में कहा है कि — तीर्थङ्कर का नाम गोत्र सुनने में भी महान् पुण्य होता है । फिर प्रतिमा में तो उनका नाम और स्थापना दोनों हैं, अतएव उन दोनों की पूजा होने में विष्णु पुण्य की प्राप्ति है, इसमें क्या आश्चर्य है ?

(१९) शृण्णिक राजा ने श्री जिनेश्वर दर की प्रतिमा की आराधना में तीर्थङ्कर-गोत्र बांधा, एसा योग शास्त्र में अधिकार है ।

(२०) श्री महानिशाथ सूत्र में कहा है कि जिन-मन्दिर बनाने वाला बारहवें देवलाक में जाता है ।

इत्यादि सैकड़ों मूल सूत्र तथा निर्युक्ति आदि प्रमाणों में मूर्ति-पूजा उत्तम फल देने वाली सिद्ध होती है । वृद्धिमानों में लिखिए इगारा ही काफी होता है, फिर भी इतने दृष्टान्तों में भी अगर किसी का हृदय पर अमर न हो तो इसमें कर्म की निश्चिन्ता के सिवाय अन्य कोई कारण नहीं । मूल सूत्रों में बराबर मिलती हुई निर्युक्ति आदि पचांगी को न मानने से, श्री भगवती सूत्र, समरायामसूत्र, नन्दीसूत्र और अनुयोग द्वार सूत्र आदि की आत्मा का लोप होता है । इतना ही नहीं,

किन्तु श्री मद्रासु न्यामी जैम चौदह पूर्वों क यनी, करली नहीं पर रेवली क ममान, मसुद्र मरीछी गम्भीर बुद्धि वाले भान्वापादि का धार अपमान होना है, जिनके मुकाबिले में आज-कल क अन्वय पुरुषों की विद्वत्ता तथा उनके कपोलकल्पित प्रमाण हिमी रिमात में नहा ।

प्रश्न—श्री विनपूजा आदि क्रिया करना तो व्यवहार धर्म है । जो निश्चय का प्राप्त कर चुक है, उन्हें य अघर्म कार्य करने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जो लोग व्यवहार धर्म की अग्रहेलना करके निश्चय पर चलन का साम्ना ग्रन्थ करते हैं, व दोनों से ही ग्रन्थ होते हैं । क्योंकि जिनमाग म शुद्ध व्यवहार को प्रधान पद दिया गया है, कवल निश्चय को नहा । यह सिद्ध करने क लिण अनेक दृष्टान्त हैं । यथा—

(१) श्री मरत राजा को केवलज्ञान प्राप्त होन क पचात् वेप बदलना पदा । ऐमान करते तो क्या केवल ज्ञान पीछा चला जाता ? नहा । परन्तु व्यवहार की रचा-करने क लिए गृहस्थ का वप उतारना पदा और मुनि का वेप धारण करना पदा ।



(२) माधु परमते मह म अपने स्थान पर आ जाय, परन्तु अश्ली स्त्री वाले स्थान में न रुक । और माग में चलते समय अगर दूसरा मार्ग न मिले तो माधु हरित काय पर पैर रख कर चले किन्तु स्त्री क मघड़ा से बच, क्योंकि यह लोकव्यवहार में विरुद्ध है ।

(३) कपली महाराज दिन रात में मरीचा देखत हैं, पर व्यवहार की रक्षा क लिए रात्रि में विहार नहीं करत ।

(४) युगलियों में भाड घट्टिन पति पत्नी रूप बनने क बाद भोग करके और अन्त में मर कर टवलोक में जाते हैं । यही कार्य कोई आज करे तो व्यवहार मार्ग का लोप करना गिना जाय और महान् अनर्थ माना जाय । निश्चय म जीव हिंसा तो ममान ही है ।

(५) श्री महावीर भगवान् निश्चय में जानत थे कि—दो माधु मरेंग, परन्तु व्यवहार की रक्षा क लिए उन्हें गोलने की मनाई की ।

(६) श्रावण निरन्तर आरम्भ समारम्भ करता है और अनक जीवों को त्राग देता है । फिर भी चोरी की

वस्तु लेना उमरे लिए योग्य नहीं गिना गया । इसका कारण लोकरूप्यवहार का लोप न होने देना ही है ।

(७) श्री वीर परमात्मा जानते थे, कि—'मेरे रोग की स्थिति पक चुकी है, इस कारण अब मिट जाएगा, परन्तु व्यवहार के लिए तथा यह प्रकट करने के लिए कि औषध लाने में दूररे साधुओं को लाभ होगा, मगधान ने स्वयं औषध का भेदन किया ।

(८) श्री मल्लीनाथ स्वामी अवेदी थे, परन्तु लोक-व्यवहार मान्य करने के लिए वे स्त्रियों की परिपद् में ही बैठते थे ।

(९) उरमते मेह में गुरु को देहचिन्ता उपजी । उस समय एक चेले ने कहा—'मैं नहीं परठता, क्योंकि जीव-हिंसा का दोष लगता है ।' तब दूररे शिष्य ने परठा । इन दोनों में परठने वाला आराधक है, दूररा नहीं ।

(१०) मोहराम में उचने के लिए साधु से चौमासे क मिठाय, एफ जगह, कारण बिना, एफ माम में अविफ रहना नहा कल्पता, किन्तु मोहराम बँधने वाला हो तो रहनमि की तरह एक धड़ी

किन्तु एक मास से अधिक रहे तभी व्यवहार भग होता है, अन्यथा नहीं ।

इनके अतिरिक्त भी व्यवहार मास की मुख्यता के मैकड़ों दृष्टान्त मौजूद हैं ।

श्रावक का शुद्ध व्यवहार रात्रिभोजनत्याग आदि का है । इस व्यवहार का जो लोप करत हैं, उनका निश्चय तत्काल लुप्त हो जाता है । और जो शुद्ध व्यवहार को अङ्गीकार करते हैं, वे मोक्ष पर्यन्त के फल प्राप्त करते हैं ।

प्रश्न—आनन्द आदि श्रावकों ने जिनमन्त्रि बन वाये, ऐसा पाठ किस सूत्र में है ?

उत्तर—आनन्द आदि श्रावकों ने जिनपूजा की, ऐसा अधिकार श्री उपासगदशाग सूत्र में है । उक्त सूत्र की हकीकत के विषय में श्री नन्दीसूत्र तथा श्री ममना यांगसूत्र में कहा है —

“से किं त उवासगदसाओ १, उवासगदसासु ए उवासगाण एगराणि उज्जाणाणि चेइयाइ वणसुहारायाणां अम्मापियरो, समोसरथाइ धम्मापरिया धम्मकहाआइ इहलोइयपरलोइयइडिदवित्तेसा ।”

माधार्थ—उम उपासकदशागधुत्र में क्या है ?  
 उपासकदशागधुत्र में श्रावकों के नगर, उद्यान, चैत्य  
 ( जिनमन्दिर ), उनखण्ड, राजा, माता, पिता, सम  
 वषण्णिक, धर्माचार्य, धर्मकथा, परलोकादि तथा अष्टि-  
 विशेष का वर्णन किया गया है ।

इस प्रकार कहे हुए श्री जिनमन्दिरों में आनन्द,  
 कामदेव आदि श्रावकों के मन्दिर भी आ गये । श्रावकों  
 को जिनमन्दिर बनान की आज्ञा न होती तो उनका  
 यहा वर्णन कैसे होता ?

श्री टाण्णंग सूत्र में जहा श्रावक शब्द का अर्थ  
 किया है, जहां उमे (१) जिनप्रतिमा (२) जिनमन्दिर  
 (३) शास्त्र (४) माधु (५) साध्वी (६) श्रावक  
 (७) श्राविका—इन सात क्षेत्रों में धन खर्च करने का  
 हुक्म फर्माया है । अन्य सूत्रों में भी यह सात क्षेत्र श्रावक  
 के लिए सेवा करने योग्य बताये हैं । आनन्द बगैरह  
 चारह प्रतधारी हए धर्मनिष्ठ श्रावक थे । उन्होंने  
 श्री उत्तराध्ययन के २८ वें अध्यायन में कहे अनुमार  
 मध्यकव के आठ आचारों का मेवन किया है । उनमें  
 सात क्षेत्र भी आ जाते हैं, क्योंकि उन आचारों में  
 माधमिनात्सन्ध तथा प्रमाना नामक दो आचार भी

हैं । साधर्मिकतात्सल्य में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—यह चार क्षेत्र जानने चाहिए और प्रभावना में जिनविम्ब, जिनमन्दिर तथा शास्त्र इन तीन की गणना होती है ।

आनन्द कामदेव आदि श्रावकों के अतिरिक्त प्रदेशी-राजा ने भी जिनमन्दिर बनवाया था ।

प्रश्न—तीर्थयात्रा करना किस शास्त्र में लिखा है ? और उससे क्या लाभ है ?

उत्तर—तीर्थ दो प्रकार के हैं—(१) जङ्गम तीर्थ अर्थात् चतुर्विध सध और (२) स्थानर तीर्थ अर्थात् शनुजय, गिरिनार, नन्दीश्वर, अष्टापद, आयू, ममेतशिखर आदि, जिनकी यात्रा जघाचारण और विद्याचारण मुनि वर भी करते हैं । ऐसा श्री भगवती सूत्र में फर्माया है । श्री गौतम स्वामी भी अष्टापद पर गये थे ।

कर्मशत्रु को जीवन वाले शनुजय पर्वत से अनन्त जीव मोक्ष गये हैं, ऐसा श्रीज्ञाता सूत्र में कहा है ।

श्री आचाराग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में नि० लि० तीर्थभूमिया यतलाई हैं .—

“जन्मामिमेष-निवसुमण-चरणनाणुप्यायनित्राणे ।  
दियलोअभवणमदरनदीसरमोमनयरेसु ॥१॥ अट्ठावय-  
हुज्जिते गयग्गपयए य धम्मचक्के य । पामरहायत्तनग  
चमरुप्यार्य च वन्दामि ।” ॥२॥

भावार्थ—तीर्थद्वार देव की जन्मामिपेक की भूमि,  
दीक्षा लेने की भूमि, केवल ज्ञान उत्पन्न होने की भूमि,  
निर्वाणभूमि, देवलोक के सिद्धायतन, नन्दीश्वर द्वीप के  
सिद्धायतन, भवनपतियों के सिद्धायतन नन्दीश्वरद्वीप के  
सिद्धायतन, ज्योतिषी देव विमानों के सिद्धायतन, अष्टापद,  
गिरिनार, गजपद तीर्थ, धर्म चक्रतीर्थ पार्वनाथ स्वामी  
के सब तीर्थ तथा महावीर स्वामी जहा कायोत्सर्ग में रहे  
उस तीर्थ को मैं वन्दन करता हूँ ।

श्री मद्रशाहु स्वामी ने आश्चर्यनिर्पुक्ति में कहा  
है—तीर्थद्वार देवों के जहा जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान का  
और निर्वाण हुआ, उस भूमि के स्पर्श से सम्यक्त्व बढ़  
होता है ।

श्री महावीर स्वामी के हस्तदीक्षित शिष्य, अवधि  
ज्ञान धारक श्री धर्मदास गणी उपदेशमाला में  
कहते हैं—श्रावक को जिनेन्द्र देव के पाँचों

की जगह यात्रा के निमित्त जाना चाहिए । स्यावर तीर्थ की यात्रा करने में अन्तःकरण की शुद्धि होती है ।

महाकल्पसूत्र में तीर्थयात्रा के उत्तम फल का वर्णन है । यथा—जहाँ अपन रहते हैं, उम जगह भी मन्दिर होते हैं, पर तीर्थयात्रा में उनकी अपेक्षा विशेष लाभ है । क्योंकि घर पर व्यापार, रोजगार तथा सगे सम्बन्धियों की उपाधियाँ विघ्न डालती हैं । वहा दिन भर सङ्कल्प-विकल्प रहने से चित्त धमध्यानमें स्थिर नहीं रह सकता । किन्तु घर छोड़ देने पर वे सब उपद्रव दूर हो जाते हैं । अन्य स्वधर्मी बन्धु साथ होने से, उनके साथ वात्सलाय करने से मन प्रफुल्लित होता है । शास्त्र का ज्ञान मिलता है । मार्ग में अनेक ग्राम-नगरों में उत्तम माधुजनों तथा विद्वान् श्रावकों का सयोग मिलने से नवीन शिक्षा और धोष की प्राप्ति होती है । तीर्थ भूमि पर ऐसे अनेक मन्त्रजनों की मुलाकात का लाभ होता है और उनके समीप रहने से बहुत लाभ होता है । घर पर ऐसे महात्मा और उत्तम पुरुषों का योग कश्चित् ही मिलता है और कुर्मत न मिलने के कारण विशेष लाभ नहीं हो सकता । तीर्थ भूमि पर तीर्थङ्कर, गणधर तथा अन्य उत्तमोत्तम पुरुषों का निर्वाण हुआ है, अतएव उनका स्मरण आता है और

उनके गुणानुवाद का उत्तम अवसर मिलता है। बुद्धि के निर्मल होने का वह एक स्वाम कारण है। उन पूज्य पुरुषों के मार्ग पर चल कर गुणानु चरन की अपने को इच्छा होती है। उम ममय ममार असार-मा प्रतीत होता है और उसके प्रति उदासीनता होती है। आत्मध्यान करने की इच्छा होती है, परमाय में रमण करने का मन नहीं होता। आत्मिक गुणों को प्रकट करने क अनेक माधन मिलने से उनमें उद्यत रना जा सकता है। आत्म-शुद्धि क सभी अमून्य अवसर वहा प्राप्त होत हैं। कितने ही ध्यानी पुरुष पहाड़ की गुफाओं में जाकर, एकान्त में बैठ कर आत्मा और जड़ के भेद का विचार करते हैं, धर्मध्यान में तल्लीन बनते हैं और शुक्लध्यान आदि ध्यान प्राप्त करने का अभ्यास करते हैं।

विशेष शुद्धि का दूसरा कारण तो यह है कि—उत्तम पुरुषों क शरीर के पुद्गलपरमाणु वहाँ फैले होत हैं। वे सब उत्तम होते हैं। चपक श्रेणी माडन क लिए वज्रश्रृपमनाराच सहनन की आवश्यकता होती है। उसरु विना उत्तम ध्यान बन ही नहीं सकता। अतएव पुद्गल की सहायता भी चाहिए। जो पुरुष मुक्त होने वाले हैं, उन उत्तम पुरुषों के शरीर में, ध्यान को पुष्ट करन वाले



पुद्गल एकरुन हुए होते हैं । वे पुरुष जब निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं किन्तु वे पुद्गल उनकी निर्वाण भूमि में बिखरे रहते हैं । वहा प्रायः शुभ पुद्गलों का ही समूह होता है और वह अपने अन्दर प्रवेश करते हैं । यद्यपि उन्हें निर्वाण पाये बहुत समय हो गया है, तथापि वे सब पुद्गल नष्ट नहीं हो गये । ऐसी विशुद्ध भूमि में पुण्य-शाली स्त्री पुरुषों की बुद्धि उन निर्मल पुद्गलों का स्पर्श होने पर जितनी निर्मल होती होगी, यह बात अनुभव के बिना नहीं जानी जा सकती । कदाचित् किसी अभागी को वहा अच्छे के बदले खराब पुद्गलों का स्पर्श हो तो उसके कर्म का दोष समझना चाहिए । मुख्य रूप से तो वहा उत्तम पुद्गलों का ही सद्भाव है ।

इस प्रकार घर की अपेक्षा तीर्थ भूमि की यात्रा में कई गुणा लाभ होता है तथा धर्मध्यान निर्विघ्न और सुगम बन जाता है ।

प्रश्न—जिनपूजा में हिंसा होती है, अतः वह त्याज्य क्यों नहीं है ?

उत्तर—‘जिनपूजा में हिंसा होती है, ऐसा कह कर जो उसका निषेध करते हैं, उनके लिए, उनके

मान्य षत्तीस सूत्रों के आधार पर निम्नलिखित दितशिषा है .—

जिस-जिस क्रिया में हिंसा होती है, वह वह क्रिया यदि एकान्त रूप में त्याज्य ही है तो प्रतिक्रमण, सुपात्रदान, मुनिविहार, साधर्मिक वात्सल्य और दीनमहोत्सव आदि सभी धर्म कार्य त्याज्य ठहरेंगे । किन्तु आवश्यक-सूत्र, भगवतीसूत्र, आचारागसूत्र और ज्ञातासूत्र आदि आगमों में प्रतिक्रमण, मुनि को आहारदान, साधुविहार और साधर्मिकवात्सल्य आदि धर्म कार्य करने का साधु तथा श्रावक, दोनों के लिए विधान किया गया है ?

उवगईसूत्र में राजा कोणिक द्वारा किये गये प्रभु को चन्दनमहोत्सव का विस्तृत वर्णन है ।

भगवतीसूत्र में उदायन राजा द्वारा किये गये भगवान् के सामैयाश्रों का तथा तुङ्गिया नगरी के श्रावकों द्वारा कृत जिनपूजा का वर्णन है ।

विपाकसूत्र में सुबाहुकुमार का वर्णन है । उसमें मिथ्यादृष्टि अवस्था में भी रहे हुए सुबाहुकुमार ने सुपात्रदान से भी पुण्यबन्ध तथा परीत समार किया, ऐसा कहा है । अगर हिंसा के ही होता तो

सुनाहुकुकार पुण्यबध कैसे होता ? वह ससार परीत कैसे करता ? सच बात तो यह है कि जैसे दान संसार परीत करने का तथा पुण्यबध का कारण है, उसी प्रकार जिन पूजा भी हैं ।

जिनपूजा और सुपात्रदान आदि वम कार्यों में आरम्भ होता है, फिर भी वह मदारम्भ है और उसके योग से ससार के अन्य असदारम्भ छूटते हैं । यह बड़ा भारी लाम है जो गृहस्थ घरदार, पैसा टका, कुटुम्ब-परिवार आदि के अमदारम्भ निवृत्त नहीं हुए हैं, उनके लिए दान, देवपूजा, स्वामिनात्सव्य आदि सदारम्भ हितकारी हैं और करने योग्य हैं । श्री रायपसेणीय में श्री केशीस्वामी नामक गणधर भगवान् ने प्रदेशी राजा को असदारम्भ त्यागने का उपदेश दिया है, सदारम्भ त्यागने का नहीं कहा । सदारम्भ में दो गुण हैं—जब तक सदारम्भ होता है तब तक असदारम्भ से बचाव होता है और सदारम्भ में जिस द्रव्य का व्यय होता है उससे असदारम्भ का सेवन नहीं होता ।

प्रश्न—जिनपूजा में होने वाली हिंसा क्या त्याज्य नहीं है ?

उपर—साधु और भावक के जितने भी उच्चम कार्य हैं, उनमें हिंसा होती ही है, परन्तु यह कर्मव्यवस्था का कारण नहीं होती। हिंसा तीन प्रकार की है—हेतु, स्वरूप और अनुबन्ध। मसार के कार्यों की सिद्धि के लिए होने वाली हिंसा, हेतुहिंसा है। धर्म कार्यों के लिए होनेवाली अनिवार्य हिंसा स्वरूपहिंसा कहलाती है और मिथ्यादृष्टि आत्मा के द्वारा होने वाली हिंसा अनुबन्ध हिंसा है। इनमें से स्वरूपहिंसा कर्मव्यवस्था का कारण नहीं है। धर्म कार्य करते समय प्राणी का घात करने की बुद्धि नहीं होती, बल्कि रक्षा करने की बुद्धि होती है, फिर भी अनिवार्य रूप से हिंसा हो जाती है। वह हिंसा स्वरूप-हिंसा कहलाती है। यह तेरहवें गुणस्थान तक टलती नदा, मगर वह केवल ज्ञान आदि गुणों की प्राप्ति में बाधक नहीं मानी गई।

हा, हेतुहिंसा और अनुबन्धहिंसा स्वाज्य है, क्योंकि वह ससार के कारणभूत क्लिष्टकर्मों के उपार्जन में हेतुभूत है। श्री आचारांग आदि सिद्धान्तों में अपवादरूप से हिंसादिक का सेवन करने वाले मुनिवरों को तथा समुद्र के जल में अप्काय आदि की विराधना होने पर भी शुभ-

ध्यान में आरूढ़ मुनियों को केवलज्ञान और मोक्ष प्राप्त हुआ, ऐसे उदाहरण मौजूद हैं ।

सयम की विद्युद्धि के लिए माधुविहार आदि की तरह जिनमक्ति आदि में भी होन वाली हिंसा कर्मबन्ध करने वाली नहीं मानी गई । एकान्त दया की निरपेक्ष प्रधानता लौकिक मार्ग है, किन्तु जिनाया की प्रधानता लोकोत्तर मार्ग है । जिन शासन स्याद्वादगमित है । सुविनेरु के माय आशय की विशेषता से हिंसा भी अहिंसा बन जाती है और विनेरुहीन जन की अहिंसा भी हिंसा बन जाती है । आत्मभाव का हनन होना हिंसा है, जिससे आत्मभाव का हवन नहीं होता वह हिंसा नहीं है । दान, देवपूजा, प्रतिक्रमण, पीपघ, माधुविहार और साधर्मिकतात्सल्य आदि आत्मभाव का घात न करने वाली क्रियाएँ हैं, अतएव उनसे परम्परा से, वह मुक्ति प्राप्त होती है जहा सम्पूर्ण अहिंसा है । 'मुक्ति के साधनों का सेवन करने में जो अनियार्य हिंसा हो जाती है, वह आत्मभाव का हनन करने वाली नहीं होती' ऐसी ममक चिन्हें नहीं है, वे धर्म युद्ध से अधर्म का और अधर्मयुद्ध से धर्म का सेवन करते हैं । हममें कोई आरच्य की यात नहीं । श्री चिनपूजा, दान आदि शुभ कार्यों की तरह

ही आत्मभाव का विकास करने वाली है, अतएव हिंसा का नाम लेकर उसमें दूर भागना और दूसरों को भगाना भयानक अज्ञानता है ।

प्रश्न—क्या ऐसा कोई प्रमाण है कि स्थापना स्थापित किये बिना कोई भी धर्मक्रिया नहीं हो सकती ?

उत्तर—जैनधर्म में, प्रत्येक धर्मक्रिया स्थापना के सम्मुख ही करनी चाहिए, इसके लिए अनेक सूत्रों के प्रमाण मौजूद हैं । जैसे देव के अभाव में देव का मूर्ति चाहिए, उसी प्रकार गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना करनी चाहिए । दुखमा यारे रूपी रजनी में दिनकर के समान पूर्वधर आचार्य भगवान् श्री निनभद्र गण्डि चमाधमण द्वारा रचित विशपावरयक महाभाषा में, गुरु के अभाव में गुरु की स्थापना करने के लिए इस प्रकार फर्माते हैं —

गुरुविरहमि अ ठग्णा, गुरुवणमोवदभणत्थ च ।

जिनविरहमि अ जिणविव सेवणामत्थ महल ॥

श्री ठाणांगमूत्र में भी इस प्रकार ही स्थापना बतलाई है । उसे स्थापित करके, महाराज के गुणों का

गुरु  
धर्म-

क्रिया करनी उचित है । स्थापना में मुख्य स्थापना 'अक्ष' अर्थात् गोलाकार कौड़ा की की जाती है । यह तीन, पांच, सात या नौ आवरणों वाला हो तो उत्तम गिना जाता है । उसका फल श्री भद्रबाहु स्वामी कृत 'स्थापना-कुलक' में विस्तार से वर्णित है । उपाध्याय श्री यशो-विजय जी महाराज ने भी 'स्थापनानी सङ्ग्राह' बनाई है । उसमें भी उसका फल वैसा ही बताया है । यदि पूर्वोक्त अक्ष का योग न मिले तो ज्ञान दर्शन चरित्र के उपकरण— जैसे पुस्तक, नक्काशवाली आदि की स्थापना करनी चाहिए, ऐसा विधान किया गया है ।

आवश्यक आदि धर्मक्रियाओं में स्थान-स्थान पर गुरु महाराज की आज्ञा मागनी पड़ती है, ऐसी स्थिति में अगर साक्षात् गुरु न हों तो उनकी स्थापना बिना कैसे काम चल सकता है ?

श्रीसमसायाम सूत्र के बारहवें ममवाप में गुरुवन्दना के पच्चीस घोल पूरा करने का विधान है । उसका पाठ इस प्रकार है —

॥ दृगलसावचे क्वित्कम्मे पण्यत्ते, तजहा—

दुश्रोणय जहाजाय, क्वित्कम्म बारसावय ।

चउमिर तिगुत्त, दृपवेम एगनिक्खमण ॥

अर्थात्—वन्दन क्रिया में बारह आवर्त्त फरमाये हैं ।  
 व इस प्रकार हैं—दो अवनत अर्थात् दो बार मस्तक  
 झुकाना और एक यथाजात अर्थात् जन्म तथा दीक्षा  
 प्रदण करने के समय की मुद्रा धारण करना । बारह  
 आवर्त्त प्रथम के प्रवेश में हैं तथा दूसरे छह —

### अहोऋाय कायसफास

इत्यादि पाठ से करने चाहिए । चार सिर अर्थात्  
 प्रथम तथा दूसरे प्रवेश में दो दो बार मस्तक झुकाना, तीन  
 गुप्त अर्थात् मन वचन काय से वन्दना के सिवाय अन्य  
 क्रिया न करना, दो प्रवेश अर्थात् गुरु महाराज की हृद में  
 प्रवेश करना और एक निष्क्रमण अर्थात् गुरु महाराज की  
 हृद में प्रवेश करने रूप अवग्रह से बाहर निकलना । इस  
 प्रकार कुल पच्चीस बोल हुए । इनमें से गुरु महाराज के  
 प्रवेश में दो बार प्रवेश करना और एक बार निकलना,  
 यह बात प्रत्यक्ष गुरु के अभाव में, उनकी स्थापना के  
 बिना किम प्रकार शक्य हो सकती है ?

इसी वन्दना के पाठ में गुरु महाराज की  
 आज्ञा माग कर अन्दर प्रवेश करने का स्पष्ट फर्मान  
 है । यथा—



‘इच्छामि स्वमाममणो वदित्वा वणिज्जाणं निमीहि-  
आए अणुजाणह मे मिउग्गह निसीहि । अहो काय काय  
सफास स्वमणिज्जो मे किलामो ।’—इत्यादि ।

अर्थात्—मैं इच्छा करता हूँ कि—हे क्षमाश्रमण !  
वन्दन करने के लिए, पाप व्यापार से रहित शरीर की शक्ति  
द्वारा, मित अग्रह अर्थात् माटे तीन हाथ प्रमाण क्षेत्र में  
प्रवेश करने की मुझे आज्ञा दीजिए । उस समय गुरु की  
आज्ञा लेकर गिष्य ‘निसीहि’ अर्थात् ‘गुरुवन्दना विषय  
दूसरी क्रिया का निषेध’ कह कर अग्रह में प्रवेश करे  
और दोनों हाथ ललाट से लगाकर गुरु के चरण स्पर्श  
करता हुआ—

### अहोकाय कायसफास

इत्यादि पाठ बोले । इसका अर्थ यह है—‘भगवन् !  
आपकी अधोकाया अर्थात् चरण कमल को मरी उत्तम  
काया अर्थात् मन्त्रक द्वारा स्पर्श करते आपको कुछ रोद  
उपजाया हो तो उसके लिए क्षमा कर ।’

इस प्रकार अनेक स्थानों पर गुरु महाराज की  
भाग कर क्रिया करनी पड़ती है । तो गुरु के  
गुरु की स्थापना के बिना काम कैसे चल

कदाचित् कहो कि—‘गुरु अस्त्या की आकृति मन में कल्पित करके आज्ञा आदि माग लेंगे’ तो बलात् स्थापना निक्षेप का स्वीकार करना ही पडा । इसके सिवाय काल करके अन्य गति में चले गये गुरुओं को याद करके उनके जो गुणग्राह क्रिये जाते हैं, वे किस निक्षेप का आश्रय लेकर समझना चाहिए ? गुरुपन का भावनिक्षेप तो उस समय है नहीं । फिर भी यदि गुरुपन की पूर्व अवस्था को मन में कल्पित करके गुणग्राह आदि क्रिये जाते हैं, ऐसा कहा जाय तो स्थापनानिक्षेप और द्रव्यनिक्षेप—दोनों मानने योग्य हो जाते हैं ।

प्रश्न—‘सिद्धायतन’ शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर—‘सिद्धायतन’ गुणनिष्पन्न नाम है । उसका अर्थ होता है त्रिनमन्दिर । ‘सिद्ध’ अर्थात् सिद्ध भगवान् की प्रतिमा और आयतन अर्थात् घर, आशय है त्रिनघर या त्रिनमन्दिर । वैताढ्य पर्वत, चुन्ल हिमयन्त पर्वत, मेरु पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत, नन्दीश्वर द्वीप, रुचक द्वीप आदि पर्वतों तथा द्वीपों में असंख्य शाश्वती त्रिनमूर्तियों वाले सिद्धायतन विद्यमान हैं, ऐसा श्री जीवाभिगम तथा श्री मगवती आदि सूत्रों में स्पष्ट विधान है, जिन्हें सब जैन मानते हैं ।

प्रश्न—द्रौपदी की पूजा के लिए सूर्याभि देव की भलापण की, तो किमी श्रावक की क्यों नहीं की ?

उत्तर—शास्त्रकार श्री देवधिगणि जमाथ्रमण महाराज ने रायपसेणी सूत्र में सूर्याभि देव के अधिकार में जिनप्रतिमा की पूजा का सविस्तर वर्णन किया है। उसी की भलामण अन्यान्य स्थलों पर की गई है, क्योंकि एक ही बात का जगह-जगह विवेचन किया जाय तो शास्त्र बढ़ जाता है। इसी से शास्त्रकार एक सूत्र में दूसरे सूत्र की भलापण कर देते हैं। श्री महावीर भगवान् तथा गणधर भगवन्तों ने तो मन जगह पूरा वर्णन किया था, परन्तु शास्त्रकार सूत्र को मचित्त करने के अभिप्राय से सूत्रों की परस्पर भलामण कर देते हैं।

दूसरा कारण यह है कि—कुछ लोग यह तो मानते हैं कि देवता शार्वती जिनप्रतिमा की पूजा करते हैं, परन्तु वे अशार्वती ( कृत्रिम ) मूर्ति मानन का निषेध करते हैं। उनके अन्तर्नेत्र खोलने के लिए सूर्याभि देव की उपमा दी है। यथा—श्री रायपसेणी सूत्र में कहे अनुमार देव गण निरन्तर शार्वती मूर्तिया पूज कर अपना हित, कल्याण तथा अनुक्रम से मोक्ष की साधना करते हैं, उसी प्रकार श्रावक और आधिकार्य भी यहा स्थित जिनप्रतिमा

का पूजन करके उन्हें देशों की माति, कन्याण माघ कर्ममार मशुद्र का पार पा सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त शाश्वती और अगारवती—दोनों प्रकार की मूर्ति की पूजा से एक-मे फल की प्राप्ति होती है, यह प्रकट करने का शास्त्रकार का आशय है ।

शाश्वती प्रतिमा का आदर करना और अगारवती प्रतिमा का निरादर करना महामूर्खता है । दोनों तरह की प्रतिमाएँ एक समान सम्माननीय हैं, क्योंकि वे एक ही देव की हैं, अलग अलग देव की नहीं ।

एक कारण यह भी है कि देवताओं की शक्ति अचिन्त्य होती है अतएव जितने भाव क साथ वे पूजा करते हैं, उतने भाव से प्रायः मनुष्य नहीं कर सकता । फिर भी द्रौपदी ने मनुष्य और उसमें भी स्त्री होते हुए भी सूर्याम देव का समान महान् ठाट बाट में जिन पूजा की, यह चतुस्ताने के लिए भी सूर्याम देव का भक्तमण्य की है । इसके अतिरिक्त यह आशय भी है कि जैसे सूर्याम देव निरिचत रूप से शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, उसी प्रकार द्रौपदी भी परम श्राविका है ।

इस भक्तमण्य में यह भी प्रकट किया गया है कि जिस विधि में शाश्वती प्रतिमा

से अशार्वती प्रतिमाओं की पूजा करने से भी अपने-अपने भाव के अनुसार ममान फल प्राप्त किया जा सकता है ।

अन्य किसी श्रावक की उपमा न देने का कारण यह भी जान पड़ता है कि—आनन्द आदि श्रावकों के वर्णन में शास्त्रकार ने पूजा विधि का, सूर्याम देव के अधिकार के समान, सम्पूर्ण विवेचन नहीं किया है, अतएव उनकी भलामण कैसे दी जाती ? जिस जगह विशेष खुलासा हो उसी जगह की भलामण दी जा सकती है ।

प्रश्न—श्री तीर्थङ्कर देव के ममवमरण में देवता फूला की वर्षा करते हैं । वे सच्चि होते हैं । साधु उनका संघट्टा किस प्रकार कर सकते हैं ?

उत्तर—श्री समवायांग तथा रायपसेणी सूत्र में साफ कहा है कि वे फूल 'जलज थलज' होते हैं । जल में उत्पन्न हुए कमल आदि के तथा थल में उत्पन्न होने वाले जाई, जुही, केरदा, चम्पा, गुलाब आदि में—यह पाच वर्ण के फूल होते हैं । उनके ढन्ठल नीचे और मुख ऊपर होते हैं और जानु प्रमाण फूलों की वर्षा होती है, ऐसा

उल्लेख है। इस उल्लेख से वे फूल अचिच नहीं, पर सचिच मिद्ध होते हैं।

अथ प्रश्न यह है कि साधु अचिच पुष्पों का सघट्टा कैसे करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानु प्रमाण विद्धे हुए फूलों को साधु या अन्य मनुष्य से जरा भी बाधा न पहुच, ऐमा भगवान् का अतिशय है। जिनके प्रभाव से सिंह और हिरण, गिल्ली और चूहा, बाघ और बकरी आदि जानवर अपने अपने जन्मजात वैर को भूल कर एकत्र स्थित होकर धर्म-देशना सुनते हैं, उनके प्रभाव से फूलों के जीवों को अगर बाधा न पहुचे तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

श्री स्थूलमद्रजी के चरित्र में कहा है—कोरया गणिका ने सरसों के ढेर पर सुई खुदी की। उम पर गुजाब का फूल खडा क्रिया और फिर उमपर नृत्य क्रिया, फिर भी सुई को या फूल को तनिक भी बाधा न पहुची। तो अत्यन्त अचिन्तनीय और अनुपम प्रभावशाली श्री तीर्थङ्कर देव ऋ अतिशय से फूलों को बाधा न पहुचे, उल्टे वे प्रफुल्लित हों, यह कोई अनहोनी बात नहीं है।

जिनके अतिशय से कोटानुकोटि जीव समवसरण

नहीं, उन प्रभु का प्रभाव साधारण मनुष्या की कल्पना में न थावे, इसमें क्या नूतनता है ?

अकथनीय शक्ति व धारक देवता जल बल में अपने फूलों को लाकर, उनका बादलों की प्रतिक्रिया करके, ऐसी सूती के साथ बरसाते हैं कि मनुष्य के पैरों से उन्हें पीड़ा नहीं होती । फिर समयसरण में मध्यगढ़ की दीवाल के पाम, चारा और फूलों की पक्ति ऐसी बनाते हैं कि जिससे थाने-जाने वाले साधु के पैर के नीचे फूल आते ही नहीं । जैसे बगीचे में चारों ओर सच्चिदानन्द होती है, मगर मध्य में थाने जाने के लिए सबके एक खाली जमीन होती है और लोग वहां बैठते हैं । इसी प्रकार देवता फूलों की वर्षा करते हैं तो हममें असम्मम क्या है ?



## मूर्तों में मूर्तिपूजा का कुछ उल्लेख

श्री राघवमेयाय मूर्त का पाठ—

“तृणं च तस्मै हरियामस्म देवस्म पशुविहाण पञ्च  
 शौचं पञ्चशिखाय गणस्म ममागस्म इमेपारूये अज्भरियए  
 विन्निणं परिणए मजागए मकप्ये ममुप्यन्निष्ठा—किं मे  
 पुन्नि करिन्नि ? किं मे पच्छा करिन्नि ? किं मे  
 पुन्नि मेय ? किं मे पच्छा सेय ? किं मे पुन्निवि पच्छा  
 किं हियाए सुहाण उभाए सिस्सेमाए भाणुगामिपथाए  
 मविस्सए” ?

“तृणं च तस्मै हरियामस्म देवस्म मामाशिय-  
 पशुविहाणया देवा हरियामस्म देवस्म इमेपारूये  
 अज्भरियय जाय सकप्ये समुप्यएणं मममिजागिष्ठा जेण्येय  
 हरियामे देवे सेण्ये उवागच्छन्ति उवागच्छन्ता हरि-  
 याम देय करपलपरिगहिय दसनहं मिरसावत्तं मत्थए  
 अज्जलिं कट्ठं अण्णं विजएणं पढावेन्ति, पढाविष्ठा  
 एणं वयासी—‘एव सुल्लु देवाणुपिययाणं हरियामे विमाये  
 मिदाययणे जिणपडिमाणं निणुस्सहपमाणमेत्थाणं अट्ठ-  
 सय सपिण्णस्सिखत्तं चिट्ठए । मभाए ण सुहम्माणं णं  
 माणवए चेश्वरंमं वडरामएसु गोसुवट्ठं समुग्गएसु पट्ठो



जिणमकहाओ मण्णिविखत्ताओ चिट्ठन्ति । ताओ ए देवाणुप्पियाणं अन्नेसिं च बहुण वेमाणियाण देवाण य देवीणं य अच्चणिज्जाओ वंदणिज्जओ एममणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ मम्माणणिज्जाओ जाव पज्जुयासणिज्जाओ । त एय णं देवाणुप्पियाण पुब्बि करणिज्ज, एय ण देवाणुप्पियाण पच्छा करणिज्ज, एय ण देवाणुप्पियाण पुब्बि सेय, एय ण देवाणुप्पियाण पच्छा सेय, एय ण देवाणुप्पियाण पुब्बि पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्ससाए आणुगामियत्ताए मविस्सइ ।”

भावार्थ—तब वह सूर्याभदेव पाच प्रकार की पर्याप्ति के पर्याप्तभाव को प्राप्त होता है । वह सूर्याभदेव मन में इस प्रकार का विचार करता है कि—“मुझे पहले क्या करना चाहिये और पीछे क्या करना चाहिये ? मुझे प्रथम कन्याणकारी क्या है और पीछे कन्याणकारी क्या है ? पहले और पीछे कन्याणकारी क्या है ? तथा आत्मा के हित के लिए, सुख के लिए, कन्याण के लिए, मोक्ष के और परम्परा शुभानुबन्ध के लिए क्या है ? उस समय सूर्याभदेव की मामानिक सभा के अन्य देवता सूर्याभदेव के उपरोक्त विचारा को जान कर जहाँ सूर्याभदेव है वहाँ

आते हैं । आकर सूर्यामदेव को जय विजय आदि शब्दों द्वारा बघाई देते हैं । बघाई देने के पश्चात् वे ऐमा कहते हैं, "हे देवानुप्रिय ! अपने सूर्याम विमान में मिद्धायतन ( जिन मन्दिर ) है । उस मन्दिर में एरु-माँ आठ तिन-प्रतिमाएँ हैं, वे तिन राज की अवगाहना प्रमाण ऊँची हैं । तथा सुधर्मा समा में माण्यरु नामक चैत्य स्तम्भ है । उस स्तम्भ में ध्वजमय गोल डम्बे हैं उनमें बहुत जिनेरर मगरान की दाड़ाएँ आदि अस्थियाँ रही हुई हैं । हे देवानुप्रिय ! ये जिन-प्रतिमा और दाड़ाएँ आपको और दूसरे भी वैमानिक देव देवियों को अर्चन करने योग्य, वन्दन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य, पूजन करने योग्य और सन्मान करने योग्य हैं । तथा कन्याणकारी, मङ्गलकारी हैं । अतः आपको प्रयम करने योग्य यही है और पीछे करने योग्य भी यही है । तथा यही पहले कन्याणकारी है और पीछे भी कन्याणकारी है । अपने को यह पहले और पीछे हित के लिए, सुख के लिए, चेम के लिए, मोक्ष के लिए और परम्परा से शुभानुबन्ध के लिए होगा ।"

जीवामिगम सूत्र १४२

"तते ए से विजयदेवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं  
आव अएणेहिं य बहुहिं वाणमतरेहिं देवेहिं य देवीहिं य

जिणसकहाओ सण्णविखुचाओ चिट्ठन्ति । ताओ ए देवाणुप्पियाण अन्नेसिं च ग्हूण वेमाणियाण देवाण य देवीणं य अच्चणिज्जाओ वेदणिज्जओ यममणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ जाव पज्जुवासणिज्जाओ । त एय ए देवाणुप्पियाण पुब्बि करणिज्ज, एय ए देवाणुप्पियाण पच्छा करणिज्ज, एय ए देवाणुप्पियाण पुब्बि सेय, एय ए देवाणुप्पियाण पच्छा सेय, एय ए देवाणुप्पियाण पुब्बि पच्छा वि हियाए सुहाए खमाए णिस्मेसाए आणुगामिपत्ताए मविस्सइ ।”

भावार्थ—तब वह सूर्याभदेव पांच प्रकार की पर्याप्ति के पर्याप्तभाव को प्राप्त होता है । वह सूर्याभदेव मन में इस प्रकार का विचार करता है कि—“मुझे पहले क्या करना चाहिये और पीछे क्या करना चाहिये ? मुझे प्रथम कन्याणकारी क्या है और पीछे कन्याणकारी क्या है ? पहले और पीछे कन्याणकारी क्या है ? तथा आत्मा के हित के लिए, सुख के लिए, कन्याण क लिए, मोक्ष के और परम्परा शुभानुबन्ध के लिए क्या है ? उस समय सूर्याभदेव की सामानिक सभा क अन्य देवता सूर्याभदेव क उपरोक्त विचारा को जान कर जहां सूर्याभदेव है वहां

आते हैं । आरु सूर्यामदेव को जय विजय आदि शब्दों द्वारा बघाई देते हैं । बघाई देने के पश्चात् वे ऐसा कहते हैं, "हे देवानुप्रिय ! अपने सूर्याम विमान में सिद्धायतन ( जिन मन्दिर ) है । उस मन्दिर में एक-सी आठ जिन-प्रतिमाएँ हैं, वे जिन राज की अवगाहना प्रमाण ऊँची हैं । तथा सुधर्मा सभा में माणवक नामक चैत्य स्तम्भ है । उस स्तम्भ में वज्रमय गोल डब्बे हैं उनमें बहुत जिनेश्वर भगवान् की दाढ़ाएँ आदि अस्थियाँ रही हुई हैं । हे देवानुप्रिय ! ये जिन प्रतिमा और दाढ़ाएँ आपको और दूसरे भी वैमानिक देव देवियों को अर्चन करने योग्य, वन्दन करने योग्य, नमस्कार करने योग्य, पूजन करने योग्य और सन्मान करने योग्य हैं । तथा कन्याणकारी, मङ्गलकारी हैं । अतः आपको प्रथम करने योग्य यही है और पीछे करने योग्य भी यही है । तथा यही पहले कन्याणकारी है और पीछे भी कन्याणकारी है । अपने को यह पहले और पीछे हित के लिए, सुख के लिए, क्षेम के लिए, मोक्ष के लिए और परम्परा से शुभानुग्रह के लिए होगा ।"

जीवाभिगम सूत्र १४२

“तते ण से विजयदेवे चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं  
जाव अपणेहिं य बहहिं वाणमतरेहिं देवेहिं य”

सद्धि मपरिवुडे सन्निह्दीए सन्नजुत्तीए जाव शिग्घो  
 सखाइयरवेण जेणेव मिद्धायपणे तेणेव उवा गच्छति २ चा  
 सिद्धायतण अप्पणुयाहिणीरुमाणे २ पुरत्थिमिन्लेण दारेणं  
 अणुपविसति अणुपविसिप्ता जेणेव देवच्छदए तेणेव  
 उवागच्छति २ चा आलोए जिणपडिमाण पणाम  
 करेति, करेति २ चा लोमहत्थग गेएहति, लोमहत्थगं  
 गेएहत्ता जिनपडिमाओ लोमहत्थएण पमज्जति २ चा  
 सुरमिणा गधोदएण एहाणति २ चा दिव्याए  
 सुरमिगघकासाइए गाताई लूहेति २ चा सरसेणं  
 गोसीमचदणेण गात्ताणि अणुलिंपइ अणुलिंपिप्ता जिण  
 पडिमाण अहयाइसेताइ दिव्याई देवदूसजुलाइ शियसेइ  
 नियसेता अग्गेहिं वरेहि य गधेहि य मन्लेहिय अन्चेति २  
 चा पुष्कारुहण गधारुहण मन्लारुहण वण्णारुहण  
 चुणाहण आभारणारुहण करेति ।

भावार्थ—नाद वह विनय देव चार हजार सामा  
 निक देवताओं के साथ अथ बहुत वाणव्यन्तर देवों से  
 घिरा हुआ सब श्रद्धि के साथ सब कान्ति से सभी  
 वाजिनों के साथ जहां सिद्धायतन हैं वहां आया ।  
 आकर सिद्धायतन की तीन प्रदक्षिणा देता हुआ पूर्व के  
 द्वार से प्रवेश किया और जहां देवच्छदा हैं वहां आया ।

त्रिन प्रतिमा को देखते ही नमस्कार करता है मोर पीछी लेता है । मोर पीछी लेकर त्रिन प्रतिमाओं को प्रमार्जता है । प्रमार्जन करके सुगन्ध वाले जल से स्नान कराता है, स्नान करवा के अच्छे व सुगन्धित वस्त्र से भगवान् के शरीर को षोडश कर शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन करता है । विलेपन करके उपयोग नहीं किये हुए और अखण्ड ग्रेत ऐमे देव दुष्य वस्त्र की जोड़ी भगवान् के शरीर पर थोड़ाता है और अच्छी सुगन्ध वाली मुख्य मालाओं से भगवान् की पूजा करता है । इत्यादि

श्री ह्यतासूत्र मानो पाठ

“तए ण मा दोरई रायवरकन्ना जेणेव मज्जणघरे

तेणेव उवागच्छइ, मज्जणघर अणुप्पविमइ, एहाया कयव  
 लिक्कमा कयकोउयमगलपायच्छित्ता सुद्धप्पावेमाइ वत्थाइ  
 परिहिया मज्जणघराओ पडिणिकखमइ, जेणेव जिणघरे  
 तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जिणघर अणुप्पविसइ,  
 अणुप्पविसइत्ता आलोए निणपडिमाण पणाम करेइ, लोम-  
 हत्थय परामुसइ, एव जहा सरियामो जिणपडिमाओ  
 अच्चइ तदेव भाणियन्व जाव धून डहइ, डहइत्ता  
 वाम जाणु अचेइ, लसि  
 निइट्टु तिम्बतो मुद्धाणु (नेवे) ।

ईसि पञ्चुण्णमइ २ करधल जाव कट्टु एव वयासी-  
नमोत्थु ण अरिहताण भगवताण जाव मपत्ताण, घदइ  
णममइ २ जिणघराओ पडिणिक्खमइ ।”

भाषा—तत्पश्चात् द्रौपदी राजकन्या जहाँ मञ्जन  
स्नान गृह है वहाँ आई । मञ्जन घर में प्रवेश किया  
( स्नान कर वलि कर्म अर्थात् घर देरामर की पूजा की,  
कौतुक मङ्गल किया, ) मन की शुद्धि के लिए वह राजवर  
कन्या द्रौपदी शुद्ध, दोष रहित, पूजन योग्य, बड़े जिन  
मन्दिर में जाने योग्य उत्तम वस्त्र पहिन कर मञ्जन घर  
से बाहिर निकली । जहाँ जिन-मन्दिर है वहा आयी  
( आकर जिन मन्दिर में प्रवेश किया ) करके मोर पीछी  
से प्रमार्जन किया । बाकी सब विधि जैसे सूर्यामदेव ने  
प्रतिमा पूजन किया, उसी प्रकार सत्तरह भेदी पूजा की  
( धूप धुसाया ) धूप करके बाया घुटना ऊँचा रख दाया  
भूमि पर स्थापन किया, तीन बार मस्तक भूमि पर  
नमाया, फिर कुछ झुक कर हाथ जोड़ कर, दस नख  
मिला कर, मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ कर इस प्रकार  
कहती है, “नमस्कार हो अरिहन्त भगवन्ता को यावत्  
सिद्धि गति को प्राप्त किया है वहाँ तक अर्थात् सम्पूर्ण  
शक्र स्तव बोलती है । वन्दन नमस्कार कर मन्दिर जी

से बाहिर निकलती है ।”

( मञ्जन घर में द्रौपदी ने घर देरागर की पूजा की फिर बढ़िया वस्त्र पहिन कर बाहिर जिन-मन्दिर में गई है जसे श्री भी उहुत से श्रावक करते हैं । )

श्री महाकल्पसूत्र पाठ

“तण कालेण तेण समएण जाय तुङ्गीयाए नयरीए बहये समणोवामगा परिवसति सखे, सयमे सिलप्य-वाले रिमिदत्ते, दमगे, पुकखली, निवद्धे, सुपइहे, माणुदत्ते, सोमिले, नरवम्मे आणदकामदेवाइणो जे अन्नत्य गामे परिउमति इड्ढा दिचा त्रिच्छन्नविपुलनाहणा जाव लद्धट्ठा गहियट्ठा चाउदसट्ठमुदिट्ठपुएणमासिणीसु पडिपुन्न पोमह पालेमाणा निग्गथाण य निग्गथीण य फासुएण एसणिज्जेण असण पाण स्वाइम साइम जाव पडिलाभेमाणा चेइयालएसु तिसज्झ चदणपुण्णधूववत्था-इहि अन्चण कुणमाण जाय विहरति से तेणट्ठेण गोयमा ! जो जिणपडिम न पूएइ मो मिच्छदिट्ठी जाणियव्वो, मिच्छदिट्ठिस्स नाण न हवइ, चरण न हवइ, मुख न हवइ, मम्मदिट्ठिस्स नाण, चरण, मुक्ख च हवइ, ने तराट्ठेण गोयमा ! सम्मदिट्ठिसड्ढेहि जिणपडिमाण सुगं वपुण्णचदणविलेखेहि पूया कायव्वा



भावार्थ—उस काल में और उस समय में यावत् तुङ्गीया नगरी में बहुत भ्रमणोपासक रहते थे। शक, शतक मितप्रवाल, ऋषिदत्त, द्रमक, पुष्कली, निषद, सुप्रतिष्ठ, भानुदत्त, सोमिल, नरवर्म, आणन्द और कामदेव आदि अन्य-अन्य गामों में रहते थे। घनाढ्य तेजस्वी एव विस्तृत बलवाहन वाले थे तथा स्रष्टों के अर्थ को जानते थे। चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा और अमावास्या के दिन परिपूर्ण पीपघ को पालते हुए साधु साध्विओं को फासु-दोष रहित भोजनादि बहराते थे। परमात्मा के मन्दिरों में तीन काल चन्दन, पुष्प, धूप और वस्त्र से पूजा करते हुए जिन-मन्दिर में विचरते थे। इसलिए हे गौतम ! जो जिन प्रतिमाओं को पूजता है उसको समकित दृष्टि समझना चाहिए। जो नहीं पूजता है उसको मिथ्यादृष्टि समझना। मिथ्यादृष्टि को ज्ञान नहीं होता है, चारित्र नहीं होता है, मोक्ष नहीं होता है। समकित दृष्टि को ज्ञान, चारित्र और मोक्ष होता है। इस कारण से गौतम ! सम्यग्दृष्टि को जिन प्रतिमा की पूजा सुगन्ध, चन्दन, धूप विलेपन आदि से करना चाहिए।

श्री महाकल्पसूत्र का पाठ

“स मयव तद्धारुषे समण्ये वा माहण्ये वा चेइयवरे

गच्छेज्जा ? हता ! गोयमा ! दिण्णे दिण्णे गच्छेज्जा ।  
 से भयव जत्थ दिण्णे न गच्छेज्जा तच्चो किं पायच्छित्त  
 हवेज्जा ? गोयमा ! पमाय पढुच्च तहारूवे ममणे वा  
 माहणं वा जो जिण्णघर न गच्छेज्जा तच्चो छट्ठ अहवा  
 दुवालसम पायच्छित्त हवेज्जा । से भयव ममणोवासगस्स  
 पोसहसालाए पोसद्विए पोसहवभयारी किं जिण्णघर  
 गच्छेज्जा ? हता, गोयमा ! गच्छेज्जा । से भयव  
 केणद्वेण गच्छेज्जा ? गोयमा ! गणदसणचरणद्विए  
 गच्छेज्जा । जे वेइ पोमहसालाए पोसहभयारी जच्चो  
 जिण्णघरे न गच्छेज्जा तच्चो पायच्छित्त हवेज्जा ? गोयमा !  
 जहा साह तहा भाणियव्व छट्ठ अहवा दुवालसम  
 पायच्छित्त हवेज्जा ।”

भावार्थ—श्री गौतम स्वामी पूछते हैं कि—‘हे भग-  
 वन् ! क्या साधु और श्रावक जिन मन्दिर में जाएँ ?’  
 भगवान् बोले—‘हे गौतम ! सदैव नित्य प्रति जाए ।’  
 इस पर गौतम स्वामी जी ने भगवान् जी से पूछा कि यदि  
 न जावे तो क्या दण्ड लगता है । भगवान् जी ने उत्तर  
 दिया कि यदि प्रमाद वग न जाए तो छट्ठ का ( दो  
 उपवास ) या द्वादश भक्त(पाँच उपवास) का दण्ड लगता  
 है । फिर गौतम स्वामी ने पूछा कि ३ भगवन् ! क्या

पीपध धारी थावक पीपध में रहा हुआ जिन मन्दिर में जावे ? श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि हा गौतम, जावे । फिर गौतम स्वामी न भगवान् से पूछा कि वह मन्दिर में किस लिए जावे ? श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की रक्षा के लिए जाए । गौतम स्वामी ने फिर पूछा कि यदि कोई श्रमणोपासक थावक पीपध शाला में पीपध में रहा हुआ जिन मन्दिर में न जाय तो क्या उसे भी प्रायश्चित्त आए । प्रभु बोले, “गौतम ! प्रायश्चित्त आए, जैसे माधु को तैवे ही थावक को प्रायश्चित्त जानना । वह प्रायश्चित्त छूट्ठ अथवा पाच उपवास का होता है ।”

श्री आवश्यकसूत्र का पाठ

“तत्रो य पुरिमताले वग्गुर ईसाण अच्चए पडिम ।

मल्लिज्जिणायण पडिमा उएणण म्मि उहुमोद्धी ॥१॥”

भावार्थ—पुरिमताल नगर क रहन वाले वग्गुर नाम के थावक ने था मत्तलीनाथ प्रभु जी का देरासर पधाया ।

श्री महानिशोधसूत्र का पाठ

“काउपि जिणवयणेहि, मडिय सव्वमेइणीउड्ड ।

दाणाइचउक्केण मह्दो, गच्छेज्ज अशुय जाव न परं ॥१॥”

भावार्थ—श्री जिन-मन्दिर से पृथ्वीतल को सुशोभित कर दानादि चार से ( दान, शील, तप, माव से ) श्रावक अच्युत बारहवें देवलोक तक जाता है, इससे ऊपर नहीं ।

श्री आनन्दसूत्र का पाठ

“धूममय भाउगाण, चउशीस चैव जिणहरे कासी ।

सव्वजिणाण पडिमा, वणणपमाणेहि निअएहि ॥१॥”

भावार्थ—एक सौ भाइयों के सौ स्तम्भ और चौबीस तीर्थङ्कर महाराज के जिन मन्दिर, उनमें नव तीर्थङ्करों की प्रतिष्ठा, उनके वर्ण और शरीर के प्रमाण वाली भरत महाराजा ने श्री अष्टापद पर्वत पर स्थापित कों । -

भगवता सूत्र शतक ३, उद्देश २, सूत्र १४०

एवमेव असुरकुमारा वि देवा ण्यत्थ अरिहते वा अरिहतचेडयाणि वा अणगारे वा भावियप्पयो शिस्माए उद्ध उप्पयति जाय सोहम्मो कप्पोत्ति ।

भावार्थ—हे गौतम ! जोड़े निर्मल भी सबल का शरणा लेकर इष्टसिद्धि कर सकता है । इस तरह असुर-कुमार के देव भी अरिहन्त—अरिहन्त भगवान् के चैत्य मूर्ति ( मन्दिर ) भावितात्मा अणगार ( साधु ) की निश्वा से ऊर्ध्व ( वैमानिक देवों के स्थानों में ) जा सकते हैं । निश्वा के बिना नहीं ।

पीपध धारी थावक पीपध में रहा हुआ जिन मन्दिर में जावे ? श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि हा गौतम, जावे । फिर गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा कि वह मन्दिर में किम लिए जावे ? श्री भगवान् ने उत्तर दिया कि ध्यान, दर्शन और चारित्र की रक्षा के लिए जाए । गौतम स्वामी ने फिर पूछा कि यदि कोई श्रमणोपासक थावक पीपध शाला में पीपध में रहा हुआ जिन-मन्दिर में न जाय तो क्या उसे भी प्रायश्चित्त थाए । प्रभु बोले, “गौतम ! प्रायश्चित्त आए, जैसे माधु को तैमे ही थावक को प्रायश्चित्त जानना । वह प्रायश्चित्त छट्ठ अथवा पाच उपनाम का होता है ।”

श्री आवश्यकसूत्र का पाठ

“तत्तो य पुरिमताले वग्गुर ईसाण अच्चए पडिम ।

मल्लिजिणायण पडिमा तएणए २मि बहुगोही ॥१॥”

भावार्थ—पुरिमताल नगर के रहने वाले वग्गुर नाम के थावक ने श्री मत्तलीनाथ प्रभु जी का देरासर घघाया ।

श्री महानिशीथसूत्र का पाठ

“काउपि जिणययणेहिं, मडिय स-उमेइणीउइ ।

दाणाइचउभकेण सहो, गच्छेज्ज अशुय जाव न १२ ॥१॥”

भावार्थ—श्री जिन-मन्दिर से पृथ्वीतल को सुशोभित कर दानादि चार से ( दान, शील, तप, भाव से ) श्रावक अन्युत बारहवें देवलोक तक जाता है, इससे ऊपर नहीं ।

श्री आनन्दकमून का पाठ

“धूममय भाडगाण, चउमीन चेर जिणहरे कासी ।

सच्चजिणाण पडिमा, वणणवमाणेहिं निअएहिं ॥१॥”

भावार्थ—एक सौ माइयों क सौ स्तम्भ और चौबीस तीर्थङ्कर महाराज क जिन-मन्दिर, उनमें सब तीर्थङ्करों की प्रतिष्ठा, उनके वर्य और शरीर क प्रमाण वाली मरत महाराजा ने श्री अष्टापद पर्वत पर स्थापित कों ।

भगवती सूत्र शतक ३, उद्देश २, सूत्र १४२

एवमेव असुरकुमारा वि देवा णणत्थ अरिहते वा अरिहतचेडयाणि वा अणगारे वा भावियप्पणो शिस्माए उद्ध उप्पयति जान सोहम्मो कप्पोत्ति ।

भावार्थ—हे गौतम ! कोई निर्मल भी सबल का शरणा लेकर इष्टसिद्धि कर सकता है । इस तरह असुर-कुमार के जेव भी अरिहन्त—अरिहन्त भगवान् के चैत्य मूर्ति ( मन्दिर ) भावितात्मा अणगार ( साधु ) की निथा से उर्ध्व ( वैमानिक देवों के स्थानों में ) जा सकते हैं । निथा के बिना नहीं ।

जम्बूद्वीपपत्रति, सूत्र १३

तम्म ग्ण सिद्धायणस्त य बहु समरमणिज्जस्त  
भूमिभागस्म बहुमज्जदेसमाए एत्थणं महं एगे देवच्छदए  
पणत्ते पचधणुमयाइ आयामविक्रमेण साइरेगाइ पच-  
धणुसयाइ उद्ध उच्चत्तेण मवरयणामए एत्थण अट्टसय  
जिणपडिमाण जिणुस्मट्ठप्पमाणामित्ताण संनिल्लिक्ख  
चिट्ठह ।

भावार्थ—सिद्धायतन के बहुत रमणीय भूमिभाग के मध्यप्रदेश में एक देवच्छन्दा है । वह देवच्छन्दा विष्कम्म आयाम से पाच-सौ धनुष्य लम्बा चौड़ा और मातिरक पांच सौ धनुष्य ऊँचा सर्वरत्नमय है । यहा एक सौ आठ जिनेश्वर भगवान् की अपने-अपने प्रमाणवाली प्रतिमाए हैं ।

जम्बूद्वीपपत्रति, सूत्र ८८

तामि उप्पि पत्तेथ २ देवच्छदया पणत्ता दो  
जो अणाइ आयामविक्रमेण साइरेगाइ दो जोअणाइ  
उद्ध उच्चत्तेण सवरयणामया जिणपडिमा धरणओ  
जाव धूरकहुच्छुगा ।

भावार्थ—उनकी पीठिका के ऊपर प्रत्येक प्रत्येक देवच्छन्दा है और वहा दो योजन लम्बी चौड़ी कुछ अधिक दो योजन ऊँची सर्वरत्नमय ऐसी जिनप्रतिमाए हैं । इस तरह धूप दानी तरु धर्यान करना ।

कुमति लता उन्मीलन  
अर्घानि  
श्री जिन चित्र स्थापना स्तवन

भरतार्तिरि उद्धारन कायो, शत्रु जय गोभार  
मोना तस्या जेना दहेरो कराव्या, रत्न तणां विष थाप्या ।  
हो कुमति ! कां प्रतिमा स्थापना ? न चित्र वचन यापि ॥१॥  
वीर पद्वे येमे नेवु धरम मप्रति राय मुजाण ।  
सया सास्य प्रासाद कराव्या, मया काठ विष थाप्यां  
॥ हो कुमति ॥ २ ॥

श्रीपद्मी न चित्र प्रतिमा पूत्री, मूत्रमां सास्य टहराणा ।  
छट्टे अगे ते वीर भाप्यु, गणधर पूरे साखी ।  
॥ हो कुमति ॥ ३ ॥

मवत नवसेनाणु धरत, विमल भंग्रोश्वर जेह ।  
आयु तणां जणे दहेरो कराव्यां, ये हनार विष थाप्यां ।  
॥ हो कुमति ॥ ४ ॥

मवत ग्यारह नथाणु धरसे राजा कुमारपाल ।  
पांच हजार प्रासाद कराव्या, सात हजार विष थाप्यां ।  
॥ हो कुमति ॥ ५ ॥

मवत चार पंगणु धरमे, प्रभुपाल लनपाल ।  
पांच हजार प्रासाद कराव्या, ग्यारह हजार विष थाप्यां ।  
॥ हो कुमति ॥ ६ ॥

सवठ चार बहोतेर धरत, सपथी धनो जह ।  
राणकपुर जेण दहेरो कराया, फोड नथाणु दूष्य करव्या ।  
॥ हो कुमति ।



जम्बूद्वीपपन्नति, सूत्र १३

तम्स य सिद्धाययणस्म य बहु समरमणिज्जस्स  
भूमिभागस्म बहुमज्जदेसमाए एत्थण महं एगे देवच्छन्दए  
पणत्ते पचघणुसयाइ आयामविकसुमेण साइरेगाइ पच-  
घणुमयाइ उहद उच्चत्तेण मच्चरयणामए एत्थण अट्टसयं  
जिणपडिमाण जिणुस्महप्पमाणा मित्ताण सनित्थिक्क  
चिट्ठइ ।

भावार्थ—सिद्धायतन के बहुत रमणीय भूमिभाग के मध्यप्रदेश में एक देवच्छन्दा है। वह देवच्छन्दा विष्कम्भ आयाम से पाच मो घनुष्य लम्बा चौड़ा और सातिरेक पांच सो घनुष्य ऊँचा सवरत्नमय है। यहा एक सो आठ जिनधर भगवान् की अपने अपने प्रमाणवाली प्रतिमाए हैं।

जम्बूद्वीपपन्नति, सूत्र ८८

तासिं उप्पि पत्तेअ २ देवच्छंदया पणत्ता दो  
जो अणाइ आयामनिरकमेण साइरेगाइ दो जोअणाइ  
उहद उच्चत्तेण सच्चरयणामया जिणपडिमा वणत्थो  
जाव धुरक्कुच्छुगा ।

भावार्थ—उनकी पीठिका के ऊपर प्रत्येक-प्रत्येक देवच्छन्दा है और वहा दो योजन लम्बी चौड़ी कुछ अधिक दो योजन ऊँची सवरत्नमय ऐसी जिनप्रतिमाए हैं। इस तरह धूप दानी तक वर्णन करना।

कुमति सता उन्मोलन

अश्रानि

## श्री जिन विर स्यापना स्तवन

मरुतारि श्दारज कावा, शत्रु अय मोमार

मान्द मया जनो न्हरो कराव्या रत्न तणा विव थाप्या ।

हा कुमति ! कां प्रतिमा न्स्थापा ? ए जिन वचन थापि ॥ १ ॥

का पद्द पत्त नेवु वरस, मप्रति राव मुत्राणु ।

घा छात्र प्रामाद कराव्या, मया काठ निर थाप्या

॥ हो कुमति ॥ २ ॥

श्रीरग न जिन प्रतिमा पूजा मूरमा साव रहगणी ।

ददु अंगे व वारे भाप्यु, गखर पुर साव्या ।

॥ हा कुमति ॥ ३ ॥

मवत नवसनागु वरम, विमल मत्राश्वर जह ।

घाणु रणा लेणे न्हरो कराव्या, वे हवार विव थाप्या ।

॥ हो कुमति ॥ ४ ॥

मवत ग्यारह नवागु वरमे यना कुमारपाल ।

पांच हवार प्रामाद कराव्या, मात हवार विव थाप्या ।

॥ हा कुमति ॥ ५ ॥

संवत बार पचागु वरस, वन्नुगान जनार ।

पाच हवार प्रामाद कराव्या, ग्यारह हवार विव थाप्या ।

॥ हा कुमति ॥ ६ ॥

संवत बार बहावर वरम, मघवा घना ब्रह् ।

रायहपुर जेल दहरो कराव्या, काठ नवागु द्वाव शरच्या ।

॥ हा कुमति ॥ ७ ॥

जम्बूद्वीपपन्नति, सूत्र १३

तस्स र्णं सिद्धाययणस्म ण बहु समरमण्डजस्त  
भूमिभागस्त बहुमज्ज्कदेसमाए एत्यण महं एगे देवच्छदए  
पएणत्ते पचधणुसयाइ आयामविकरमेण साइरेगाइ पच-  
धणुसयाइ उइह उच्चत्तेण मच्चरयणामए एत्यण अट्टसय  
जिणपडिमाण जिणुस्मेहप्पमाणामित्ताण सनिरिकच  
चिइइ ।

। भावार्थ—सिद्धायतन के बहुत समशीप भूमिभाग के  
मध्यप्रदेश में एक देवच्छन्दा है । वह देवच्छन्दा विष्कम्म  
आयाम से पाच सो धनुष्य लम्बा चौड़ा और सातिरेक पांच  
सो धनुष्य ऊँचा सर्वरत्नमय है । यहा एक-सो आठ जिनशर  
मगवान् की अपने-अपने प्रमाणवाली प्रतिमाए हैं ।

जम्बूद्वीपपन्नति, सूत्र ८८

तामि उप्पि पत्तेअ २ देवच्छदया पएणत्ता दो  
जो अणाइ आयामविकरमेण साइरेगाइ दो जोअणाइ  
उइह उच्चत्तेण सच्चरयणामया जिणपडिमा वएणओ  
जाव धूवक्कुच्छुगा ।

भावार्थ—उनकी पीठिका के ऊपर प्रत्येक प्रत्येक  
देवच्छन्दा है और वहा दो योजन लम्बी चौड़ी कुछ  
अधिक दो योजन ऊँची सर्वरत्नमय ऐसी जिनप्रतिमाए हैं ।  
इस तरह धूप दानी तक वर्णन करना ।

प्रतिमा नति फल वाङ्ममो आशयवमा भाव्यु  
 सैन्य अथ वैचार्य मुनि न ममे अंगे नाल्यु रे ।  
 इमति० ॥ ४ ॥

सुरियाभ मूरि प्रतिमा पूजा रायपनणा माहिं,  
 ममकिन विगु भवजलमां पट्टा न्या न माटे बाहिर ।  
 कुमति० ॥ ६ ॥

श्रीपनीत जिन प्रतिमा पूर्वा छट अग वाच  
 ना मु एक न्या पाकारा आणा गिण तु मार रे ।  
 कुमति० ॥ ७ ॥

एक जिन प्रतिमा यन्न द्वय मूर घणा तु लाप ।  
 नंगां ज आगम संन्या आपमता कां गोप ॥  
 कुमति० ॥ ८ ॥

जिन पूजा पल्लानादिष मम मफानिशाथ क्कणि,  
 अंथ परंपर कुमनियामता ना किम मनमो वहिण र ।  
 कुमति० ॥ ९ ॥

सिद्धाय रायई जिना पूषा कल्पमूरमा देखो  
 आणा शुद्ध दया मन धरतां, मिन मूरना खेळो र ।  
 कुमति० ॥ १० ॥

धावर हिमा जिन पूजामा ज तु दगी धूप  
 ना पापा ते दूर दराया ज तुम आशी पूजे र ।  
 कुमति० ॥ ११ ॥

पट्टिकमल मुनि दान विहार हिमा दाप विरोप  
 लाभाभ विचारो जिनो प्रतिमामो रया द्वेष र ।  
 कुमति० ॥ १२ ॥

मथत तेर एकोत्तर घरसे, समरोशा रग सेठ ।

उद्धार पंदरमो शत्रु ज कीया, ग्यारह लाख द्रव्य पारण्या ।

॥ हो कुमति ॥ ८ ॥

सवत पदर सत्तासी बरसे, बान्शाह ने वारे,

उद्धार सोलमो शत्रु ने कीधो, करमाशाह जम लाधो ।

॥ हो कुमति ॥ ९ ॥

८ जिन प्रतिमा जिनवर सरखा, पूजा त्रिविध तुम प्राणी

जिन प्रतिमा मा सनेह न रजो वाचक जसना वाणा ।

॥ हो कुमति ॥ १० ॥

## श्री जिन प्रतिमा स्थापन स्वाध्याय

जेम जिन प्रतिमा बदन दास समकितन आलाव  
अगोपाग प्रगट अरथ ८, मूरख मनसा नाव रे,  
कुमति । कां प्रतिमा उथापा ॥ ८ ॥

८म त शुभ मति कापा रे-कुमति कां प्रतिमा उथापी ।  
मारग लोपे पापी रे-कुमति । कां प्रतिमा उथापा ?  
एह अरथ अबद्ध अधिकारे, जूओ उपाग उपवाई,  
ए समकितनो मारग मरडा, कहे दया शो भाई र ।  
॥ कुमति० २ ॥

समकित त्रिण सुर दुर्गनि पाने अरस विरम आहारे  
जूओ जमाली न्याए न तरीओ, हुओ घट्टल ससारा रे ।  
कुमति० ॥ ३ ॥

धारण मुनि जिन प्रतिमा यदे भालिऊ भगवद् अग,  
चैत्य साखि आलोचण भाणे व्यग्रहारे मन रगे ।

प्रतिमा नति फल काउमगो, आवरयकमा भाग्यु  
 चैत्य अर्थ वैयाचन्च मुनि १ मम अग दाखु र ।  
 कुमति० ॥ ४ ॥

मुग्ध्याभ सूरि प्रतिमा पूजा गयपमर्णा माहि,  
 ममकिल विगु भवजलमा पटना त्या न माइ बाहि र ।  
 कुमति० ॥ ६ ॥

द्रौपद्या जिन प्रतिमा पूजा, छट अग वाच,  
 ता मु एक त्या पाकारा आणा त्रिणु तु मारे र ।  
 कुमति० ॥ ७ ॥

एक जिन प्रतिमा रत्न द्वेप सुत्र घणा तु लाप ।  
 नशमा जे आगम मग्या आपमना वा गापे ॥  
 कुमति० ॥ ८ ॥

जिन पूजा फलदानात्कि मम, महानिशाथे लहिण,  
 अथ परपर कुमतिरावता, ना रिम मनमां यणि रे ।  
 कुमति० ॥ ९ ॥

सिद्धाय रायइ जिन पूया बल्पसूत्रमा दखो,  
 आणा शुद्ध त्या मन धरता, मिला सूत्रना लेखा र ।  
 कुमति० ॥ १० ॥

धारर हिंसा जिन पूनामा ज तु देखा धूने  
 ता पापी त दूर देशथा ज तुभ आवा पूजे रे ।  
 कुमति० ॥ ११ ॥

पहिकमण मुनि दान विहार, हिमा दोष विशेष  
 लाभान्नाभ विचारा जोतां प्रतिमामा स्यो द्वेप रे ।  
 कुमति० ॥ १२ ॥

टीका चूर्ण भाष्य उवगथा, उवेखा नियुक्ति,  
प्रतिमा कारण सूत्र उवरया, दूर रह तुम मुगति रे ।  
कुमति० ॥ १३ ॥

शुद्ध परपर चाली आर्या, प्रतिमा-यत्न वाणी  
मंमृच्छंम ज ॥ मू न मान, नेह अनाट्ट कल्याण रे ।  
कुमति० ॥ १४ ॥

जिन प्रतिमा जिन मरखा जान पचांगीना जाण,  
कवि चमविजय कहे ने गिरुआ, कीजे ताम वखाण रे ।  
कुमति० ॥ १५ ॥

## श्री शान्तिनाथ भगवान् का स्तवन

शांति चिनेश्वर माहिब घटो अनुभय रमतो कने र ।  
मुखन मटके लोचन लटके, मोझा मुर नर घृणेर ॥  
मज्जर न्खी ने कोयल टट्टुके मेष घटा जम मारे र ।  
तेम जिन प्रतिमा निरखी हरखु, तलि जेम चण चफोरो रे ॥  
जिन प्रतिमा 'जिनरशो' भाषा, सूत्र घणा छे माखीरे ।  
सुरनर मुनिरर वदन पुना, रगता शिय अभिलापि र ॥  
रायपसणा प्रतिमा' पूजी, सूरयाभ समकित धारारे ।  
जावाभिगम प्रतिमा पूजा त्रिनयदेव अविकारा रे ॥  
जिनर बिम्ब बिना नहा उट्टु आनन्नी एम बोले र ।  
मातम अग समकिन मूले, अवर नहा तस तोले रे ॥  
जातासूत्रे द्रौपदी पुना, करनी शियमुप मागे रे ।  
राय भिद्वार्थ प्रतिमा पूजी, फल्पसूत्र माहे रागे रे ॥

त्रिशाधारण मुनिवरे उद्दी प्रतिमा पौषम अग र ।  
 जषाधारण मुनिवरे बंनै, तिन पट्टिमा मन रग र ॥  
 आय मुहरितमूरि उपदरा, चाषा सम्प्रति राय र ।  
 मया काट्टिजिनबिम्ब भरात्या, धन्य थय म्दनी माय र ।  
 माग्ना प्रतिमा अभय कुमारे दग्वा आट्ट कुमार र ।  
 नानि स्मरण समकित्त पामी धारेया शिउमुय मार र ॥  
 इत्याम्बि बट्ट पाठ कस्या छ मूत्र माट मुयमारा र ।  
 मूत्र नणो म्द वग न्याप, न कस्या बहुल समाग र ॥  
 न माट तिन आणा धारी, कुमति कदाभा धारा र ।  
 भक्ति नणा फन उत्तराभ्ययने बाधि बाच सुखधारी र ॥  
 म्द भव णय पग्वा पान्या, मालमां था तिनराय र ।  
 मुभ मन मदिरीण पधरात्या धरल मगल गयराय रे ॥  
 तिन न्तम प्द रूप अनुषम, कति कमलाना शाला रे ।  
 पाव तिनयकट्ट प्रभुनानी भक्ति, करना मगल माला रे ॥







